ॐ

श्रीमत् गंगाधरेन्द्र सरस्वती प्रणीत

# स्वाराज्य सिद्धि।

सरलान्वय पद्य काशिका भाषा टीका

कर्ता—

श्री परमहंस स्वामी मंगलहरि मुनि

प्रकाशक—

**वेदान्त केसरी कार्यालय,**

बेलनगंज—आगरा।



सन् १९३४ ] सर्वाधिकार स्वाधीन [ मूल्य

वेदान्त केसरी कार्यालय
के लिये मुद्रक और
प्रकाशक--
शिवशंकर शर्मा,
केसरी प्रेस, बेलनगंज,
आगरा

सरलान्वय पद्य काशिका भाषा टीकाकार की

# प्रस्तावना ।

परम पावन ब्रह्मांड शिरोभूषणरूप इस भारत भूमि क प्रभाव छुपा हुआ नहीं है, क्योंकि इसी भारत भूमिमें ही कर्म उपासना ज्ञान के प्रतिपादक और वेदों के प्रवर्तक महा विद्वान प्रकट हुए हैं। इसी भारत भूमिमें ही सच्चिदानन्द परिपूर्ण माया शबल ब्रह्म के श्रीराम, श्रीकृष्ण आदिक अवतार हुए हैं। इस कलियुग की प्रवृत्ति में भी अलौकिकप्रज्ञ विद्वान् तथा राजे महाराजे इस भारत भूमिमें प्रकट हुए हैं। उन विद्वानों में से एक विद्वान् गंगाधरेंद्र सरस्वती हैं। इनकी विद्वताका प्रभाव किस विद्वान को परिचित नहीं होगा ? श्रीगंगाधरेंद्र सरस्वती श्रीवेदांत केसरी शंकराचार्यमार्गानुगामी थे। इनके पूज्य गुरुओं का नाम रामचंद्र सरस्वती था और परम गुरु का नाम सर्वज्ञ सरस्वती था। ये सर्व परिव्राजक महा विद्वान् थे। इस गंगाधरेंद्र सरस्वती के शिष्य आनंदबोधेंद्र सरस्वती थे। आनंदबोधेंद्र सरस्वती ने श्रीयोगवसिष्ठ पर तात्पर्य प्रकाश नाम की संस्कृत टीका लिखी

है। यह टीका वर्तमान में मुद्रित है। इस प्रकार इस गंगाधरेंद्र सरस्वती की गुरु परंपरा तथा शिष्य परंपरा विद्वानों की ही हुई है। इन्ही गंगाधरेंद्र सरस्वती ने स्वाराज्यसिद्धि नाम का ग्रंथ लिखा है। इस पर संस्कृत टीका भी इन्होंने स्वयं ही लिखी है परन्तु वह वर्तमान में मुमुक्षु जनोंकी पुण्योपरति से दुर्लभसी है। इस पर भाषा टीका अद्यावधि किसी विद्वान् ने नहीं लिखी है। पंजाबदेशांतर्गत माझा देश में लब्धजनि निर्मलसूतानुगामी श्री ६ पं० गुलाबसिंहजी ने इस स्वाराज्यसिद्धि का ही आनुपूर्वी अनुकरण मोक्ष पंथ नाम से भाषा छंदों में लिखा है। यह अनुकरण तो अति उत्तम है परन्तु मूल श्लोकों के साथ साथ न रखकर लिखा गया है इसलिये इस अपूर्व ग्रंथ पर मूल श्लोकों के साथ हिंदी भाषा टीका अपेक्षित थी, क्योंकि वर्तमान काल में हिंदी भाषा का बड़ा प्रचार है। इस प्रकार विचार कर इस ग्रंथ पर मेरा कभी कभी हिंदी टीका लिखने का विचार तो हुआ करता था परन्तु कारण विशेषों से वह विचार तिरोधान होजाता था। संवत् विक्रमी १९९० की अर्धकुंभी हरिद्वार में मेरा शरीर पधारा और श्रीकृष्ण स्वरूपानुरसिक कृष्ण मूर्ती परमहंस श्रीब्रह्मानंदजी भी अर्धकुंभी हरिद्वार में पधारे। आप हमारे मित्रवर्य्य सखा हैं। आपका दर्शन परमानंदप्रद है। आपने ग्रंथों के प्रसंग से कहा कि आप स्वाराज्यसिद्धि पर सरल हिंदी भाषा टीका लिखिये मैं इसको मुद्रित करवाऊंगा। इस प्रकार श्रीमान् मित्रवर की अनुमती से इस स्वाराज्यसिद्धि पर यह टीका मैंने लिखी है जिसका नाम सरलान्वय पद्य काशिका रक्खा गया है।

इस स्वाराज्यसिद्धि ग्रंथ के तीन प्रकरण हैं। प्रथम प्रकरण का नाम अध्यारोप प्रकरण है। इस प्रकरण में सांख्यादिक मतों का श्रुति प्रमाण से तथा युक्ति से खंडन किया गया है और वेदांत सिद्धांताभिमत अर्थ का स्थापन किया गया है। दूसरे प्रकरण का नाम अपवाद प्ररकण है। इस प्रकरण में भेद का खंडन श्रुति प्रमाण से तथा युक्ति से किया गया है और अद्वैत सिद्धांत का स्थापन किया गया है। तीसरे प्रकरण का नाम आगम करण प्रकरण है। इस प्रकरण में शब्द प्रमाण ही आत्मैकत्व साक्षात्कार का कारण है यह स्थापन किया गया है। यह अद्वितीय ग्रंथ वेदांत सिद्धांत का समर्पक है और उपनिषदों का तथा ब्रह्मसूत्र भाष्य का संग्रहरूप है। परन्तु सूत्र रूप है मैंने भी संग्रह रूप ही व्याख्यान लिखा है सविस्तृत नहीं लिखा है, क्योंकि भाषामात्रज्ञ मुमुक्षु जनों को मूलमात्र के अर्थ ग्रहण में विस्तार विरोधी पड़ जाता है। परंतु अपेक्षितार्थ सर्व लिखा है, अतः अधूरा भी नहीं है। गुरु उक्त वेद सिद्धांत का अधिक कहना भी अस्मदादिकों की शक्ति से बाहर है, क्योंकि सूर्य व्याप्त आकाश में पटबीजना क्या प्रकाश कर सकता है? और न यह टीका ख्याति लाभ वा पूजाके लिये ही लिखी गई है, किंतु केवल स्वमित्रवर के वाक्य के सत्कारार्थ तथा ब्रह्मवेत्ता रूप कसौटियों में स्वबोध के परिशोधन के अर्थ ही यह टीका लिखी गई है। वेदांत शास्त्र का अर्थ बड़ा गंभीर है इसलिये इस सिद्धांत अर्थ का पूर्ण रीति से भाषान्तर से कहना कठिन है। तथा

यथामति इस स्वाराज्यसिद्धि नामक अपूर्व वेदांत ग्रंथ का किंचित अर्थ मैंने सज्जन पुरुषों प्रति समर्पण किया है। आशा है कि सज्जन महात्मा विद्वान् इस टूटी फूटी हिन्दी भाषा टीका को तथा विपरीत अर्थ को कृपया सुधार लेंगे, क्योंकि महात्मा जन दूषण को भी भूषण बना देते हैं। मुमुक्षु जनों से नम्र निवेदन कि इस हिन्दी भाषा टीका को सम्यक् विचार कर स्वरूपावस्थित परमानंद को प्राप्त होकर वे मेरे प्रयत्न को सफल करें। अतः मुमुक्षु जन भी कृपया मानुष बुद्धि सुलभ स्खलितता को 'शैवलं किल विहाय केवलं निर्मलं किमु न पीयते जलम्' अर्थात् काई को हटा कर केवल शुद्ध जल का पान क्या नहीं किया जाता है? किया ही जाता है। इस न्याय से संशोधन कर बड़े सत्कार पूर्वक परम सिद्धांतार्थ का अनुभव करें!

इस टीका को हमारे मित्रवर श्रीमत्परमहंस परिब्राजक ब्रह्मनिष्ठ स्वामी ब्रह्मानंदजी ने बड़े परिश्रम से संशोधन किया है। इति ॐ तत् सत

—परमहंस स्वामी मंगलहरि मुनिः।



# निवेदन

सरल हिन्दी भाषा में वेदान्त सम्बन्धी पुस्तकें लिखकर अथवा अनुवाद करके और संस्कृत साहित्य के वेदान्त सम्बन्धी उच्च कोटी के ग्रंथों का हिन्दी भाषा में सरल अनुवाद करके अथवा कराकर प्रकाशित करके साधारण जनता में अध्यात्मिक ज्ञान का प्रचार करना इस कार्यालय का मुख्य उद्देश है। ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य का अनुवाद तथा ५१ उपनिषदों का अनुवाद इसी उद्देश की पूर्ति में हुआ है।

स्वाराज्य सिद्धि वेदान्त का एक छोटा सा काव्य मय ग्रन्थ है। विषय दार्शनिक होते हुए भी इसकी भाषामें दार्शनिक विषय के गांभीर्य को निभाते हुए भी प्रचुर लालित्य विद्यमान है।

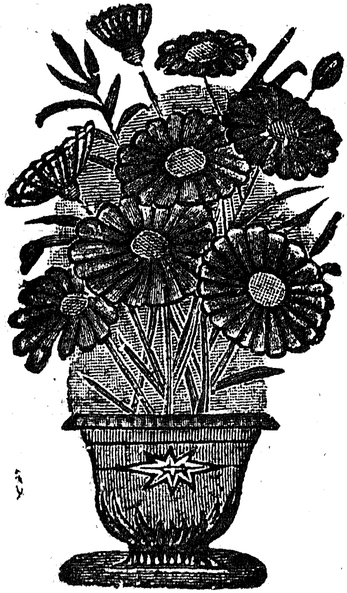
इसके टीकाकार तथा उनको जिस महात्मा ने इस कार्य के लिये उत्साहित किया कार्यालय दोनों महानुभावों से अपरिचित है और एक तीसरे ही महात्मा के कहने से इसकी हस्तलिखित कॉपी कार्यालय में पहुँचादी।

श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामी भास्करानंद सरस्वती कृत संस्कृत कैवल्य कल्पद्रुम समाख्या जो संवत १९४८ में लिखी गई थी उसीके अनुसार अनुवाद किया गया है।

अनुवाद प्रचलित शुद्ध भाषा में न था और उसकी वाक्य रचना में भी अन्तर था इसलिये इसके संशोधन में अत्यंत ही परिश्रम करना पड़ा है। इसके अलावा पाठकों के सुभीते के लिये श्लोकों के नीचे सरलार्थ दिया गया है इस प्रकार अनुवाद का कलेवर ही बदल गया है। अब हम समझते हैं कि यह मुमुक्षुओं को अधिक हितकर होगा।

लालघाट–आगरा।
ता० ५-७-३४

**ब्रह्मचारी विष्णु,**
सम्पादक—वेदान्त केसरी।



* ॐ *

श्रीमत् गंगाधरेंद्र सरस्वती प्रणीत

# स्वाराज्य सिद्धि ।

सरलान्वय पद्य काशिकाऽऽख्या भाषा टीका सहित ।

---

भाषा टीकाकृत् मंगलाचरणम् ।

शिवमभयमनाद्यनन्तमध्यं परमसुखाद्वय बोध मात्रसारम् । उपरत सकल भ्रमं विशुद्धं निज महसा स्फुरदात्म तत्त्वमींडे ।। १ ।। यद्वाक्यामृत पायिनां प्रतिपदं चेन्द्रो रसो नीरसो यद्वाक्यार्थ विचारणादभिमतं ब्रह्मैव सर्वं जगत् । यद्वाणयाः सु विचारणात्सुमनसां जाता स्वर्वीर्निष्कला तस्मै श्रीगुरवे स्व राममुनये नित्यं नमस्कुर्महे ।।२।। हरि ध्यान मुनिं नत्वा ब्रह्म तत्त्वं परं गुरुम् । विद्यारत्नर्षि भामर मुनिं बोधं नमाम्यहम् ।।३।।

भरद्वाज महारत्न विरक्त हृदयाकरम् । मित्रवर्यं सदा वंदे नन्दरामं मुनीश्वरम् ।।४।। जयति श्रीविरक्तानां चरणाब्जरजोगुणः । हताश्रया यदेकेन रजः सत्त्व तमोगुणाः ।।५।।

श्रीमद् गंगाधरेन्द्रेण दुरूह श्लोक भावनः । स्वाराज्य सिद्धि नाम्ना वै कृतो ग्रंथो महाधिया ॥६॥ गंगाद्वारे प्रसंगाद्धै मित्रवर्येण नोदितः । ब्रह्मानन्देन भाषायां कुरु भो पद्य काशिकाम् ॥७॥ यथामति बुभुत्सुभ्यः सहायं संकटेष्विव । तस्मिनज्ञासुकरे ग्रंथे दर्शयस्व परिश्रमम् ॥८॥ भाषामात्रज्ञ दुर्बोधं स्फुटं व्याख्यास्यते पदम् । स्वमित्रोक्ति समादृत्य भाषायां सुख हेतवे ॥९॥ कृतिभिरसुकराः क्वनु प्रबन्धाः क्वचबत बालिश बुद्धिरेष जन्तुः । तदपि विरचनेऽत्र सद्गुरूणां सदय निरीक्षणमेव मेऽवलम्बः॥१०॥ अशेष विद्याम्बुधिपारगाणामपास्तरागादिमनोमलानाम् । कृपा निधीनां कृतिनां ममास्मिन् सतांपदाब्जस्मरणं सहायः ॥११॥ स्वाराज्यतिलकोऽतोऽस्याः मया सम्यक् विधीयते । स्वाराज्य तिलके जाते को नकुर्यान्नमस्कृतिम् ॥१२॥ सदयहृदयाः संतः ग्रंथं मे व्याचिकीर्षतः । श्रमज्ञाः पंडिताः निष्ठाः क्षमध्वं स्खलितं क्वचित् ॥१३॥



## ॥ अध्यारोपाख्यं प्रथमं प्रकरणम् ॥

निष्किंचन विरक्त जिज्ञासु जनों के लिये इस स्वाराज्य सिद्धि ग्रंथ की रचना हुई है। स्वाराज्य पद का अर्थ चक्रवर्तित्व है। इस चक्र वर्तित्व रूप स्वतंत्र पद की प्राप्ति के लिये, ग्रन्थ की देश देशान्तरों में प्रवृत्ति के लिये और आगे शिष्य पर शिष्य शिक्षा के लिये ग्रंथ कर्ता आशीर्वाद रूप मंगल को करता है।

मंगलाचरणम् ।

मन्दाक्रान्ता छन्द ।

**गंगा पूर प्रचलित जटास्रस्त भोगीन्द्र भीता-**
**मालिंगन्तीमचलतनयां सस्मितं वीक्षमाणः ।**
**लीलापांगैः प्रणत जनतां नंदयंश्चन्द्रमौलि**
**र्मोहध्वांतं हरतु परमानंदमूर्तिः शिवो नः ॥१॥**

श्रीगंगा के प्रवाह से कंपित जटा में से नीचे गिरे हुए सर्पराज से भयभीत होकर, आलिंगन करती हुई तथा प्रणाम करने वाले को स्वाभाविक कृपाकटाक्ष से प्रसन्न करने वाली पार्वती को मंद हास्यपूर्वक देखने वाले, जिनके मस्तक में चन्द्र है तथा जो परमानन्द स्वरूप हैं वह शिव हमलोगों के अज्ञान अंधकार को दूर करें ॥ १ ॥

सरलान्वय पद्य काशिका भाषा टीका ।

( शिवः ) महादेव ( नः ) हम लोगों के ( मोह ध्वान्तं ) अज्ञान रूप अंधकार को ( हरतु ) नाश करे। कैसा वह शिव

है ? ( चन्द्रमौलिः ) चन्द्र है मस्तक में जिसके और परमार्थ से ( परमानंद मूर्तिः ) वह शिव निरतिशय आनंद स्वरूप परब्रह्म रूप है। पुनः वह शिव कैसा है ? ( अचल तनयां ) पर्वत सुता पार्वती को ( सस्मितम् ) मंद मंद हास्य के सहित ( वीक्षमाणः ) देखता है । कैसी वह पार्वती है ? ( गंगा पूरेण ) श्रीगंगा के प्रवाह से ( प्रचलित जटाभ्यः ) अत्यन्त कंपित जटाओं से ( स्रस्तः ) नीचे को गिरा हुआ जो ( भोगींद्रः ) शेष है अर्थात् सर्पराज है, उस सर्पराज से ( भीताम् ) चकित हुई ( आलिंगतीम् ) शिव के अंक में, गोद में निमज्जन करती हुई, तथा ( प्रणतजनताम् ) प्रणामों से अति नम्र हुए मुमुक्षु जन समूह को ( लीलापांगैः ) स्वाभाविक प्रीति जन्य कटाक्षों से ( नन्दयन् ) प्रसन्न करती हुई; ऐसी पार्वती को देखता हुआ शिव हम लोगों के अज्ञान के अन्धकार को हरे ॥१॥

मल विक्षेप दोष रहित विवेक वैराग्यादि सर्व साधन संपन्न अधिकारी को मूल सहित अनर्थ की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति श्रीसत् गुरुओं की कृपा से होती है इस अर्थ को क्रम से सूचन करते हुए आशीर्वाद रूप मंगल के अनन्तर अब नम-स्कार रूप मंगलाचरण को रचते हैं—

**स्मारं स्मारं जनिमृतिभयं जातनिर्वेद वृत्ति-**
**र्ध्यायंध्यायं पशुपतिमुमाकान्तमंतर्निषण्णम् ।**
**पायं पायं सपदि परमानन्द पीयूषधारां**
**भूयोभूयो निजगुरुपदाम्भोज युग्मं नमामि ॥२॥**

जन्म मरण के भय को बारंबार याद करके उत्पन्न हुई वैराग्यवृत्ति से हृदय में रहे हुए उमाकान्त पशुपति का

बारंबार ध्यान करके, शीघ्र ही परमानन्दरूप अमृतधारा का बार बार पान करके अपने गुरु के दोनों चरणकमलों को मैं बारंबार प्रणाम करता हूं ॥ २ ॥

( जनि मृतिभयम् ) जन्म मरण के भय को ( स्मारं स्मारम् ) पुनः पुनः स्मरण करके ( जात निर्वेद वृत्तिः ) विषयों में दोष दर्शन रूप हेतु से उत्पन्न वैराग्य वृति वाला हुआ और ( अन्तर्निष्एणम् ) हृदय में उपविष्ट ( उमाकान्तम् ) श्रीपार्वती प्रिय ( पशुपतिम् ) जीव रूप पशुओं के स्वामी शिव को ( ध्यायं ध्यायम् ) बारम्बार स्मरण करके अर्थात् हृदय में स्वात्मा से अभिन्न रूप ऐसे शिव को चिन्तन करके ( सपदि ) शीघ्र ही अर्थात् ध्यान काल में ही ( परमानन्द पीयूषधाराम् ) परमानन्द रूप अमृत धाराओं को ( पायं पायम् ) पुनः पुनः पान करके अर्थात् अनुभव करके ( निज गुरु पदाम्भोज युग्मं ) अपने तत्त्वोपदेष्टा गुरुओं के दोनों चरण कमलों को ( भूयोभूयः ) बारम्बार ( नमामि ) मैं नमस्कार करता हूं ॥ २ ॥

परम कृपा कर अब जीव ब्रह्म के एकत्व उपदेष्टा सद्गुरुओं के प्रति नमस्कार मिष से वस्तु निर्देश रूप मंगलाचरण को आचार्य रचते हैं ।

शार्दूल विक्रीडित छंद ।

**यस्माद्विश्वमुदेति यत्र निवसत्यंते यदप्येति-**
**यत् सत्य ज्ञान सुखस्वरूपमवधिद्वैतप्रणाशोज्झि-**
**तम् । यज्जाग्रत्स्वपनप्रसुप्तिषु विभात्येकं विशोकंपरं**
**प्रत्यग्ब्रह्मतदस्मि यस्य कृपया तंदेशिकेंद्रं भजे ॥३॥**

जिसमें जगत उत्पन्न होता है, रहता है और लय होता है वह उसीका ही रूप होता है, जो सत्य ज्ञान सुखस्वरूप है, जो देशकाल के परिच्छेद से रहित है, जो जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति अवस्था में प्रकाशता है, जो एक है तथा शोकरहित परमपद है; वह प्रत्यक् ब्रह्म मैं हूं, ऐसा ज्ञान जिस तत्त्ववेत्ता गुरु की कृपा से मुझे हुआ है उसको मैं भजता हूं ॥३॥

( यस्य कृपया ) जिस श्रीसद्गुरु की कृपा से ( तत् प्रत्यक् ब्रह्म ) तत्त्वमसि आदि महावाक्यों में जो तत्पद्का लक्ष्य, दृश्य से विपरीत रूप, प्रकाशमान तथा सर्वानुगत ब्रह्म है वह ( अस्मि ) मैं ही हूँ, ( तं देशिकेन्द्रम् ) उस सर्व प्रकार के गुरुओं में श्रेष्ठ जीव ब्रह्म के एकत्व ज्ञान प्रद गुरु को ( भजे ) मैं मन, तन, धनादिकों से सेवन करता हूँ। सो ब्रह्म कैसा है ? ( यस्मात् ) जिस ब्रह्म से ( विश्वम् ) निखिल जगत् ( उदेति ) रज्जु में सर्प के सदृश आविर्भूत होता है अर्थात् उत्पन्न होता है और ( यत्र ) जिस अधिष्ठान रूप ब्रह्म में ही यह जगत् रज्जु में सर्प के समान ( निवसति ) निवास करता है अर्थात् स्थित है और ( अन्ते ) अन्त में अर्थात् अधिष्ठान के ज्ञान काल में ( यत् अप्येति ) जिस अधिष्ठान रूप ब्रह्म में ही यह जगत् रज्जु में सर्प के समान अत्यन्ताभाव को प्राप्त होजाता है—कल्पित वस्तु का अभाव भी अधिष्ठान से न्यारा नहीं होता है, इसलिये यहां कल्पित जगत् के अभाव से द्वैत शंकाका अवकाश नहीं है—( यत् सत्य ज्ञान सुख स्वरूपम् ) पुनः जो ब्रह्म बाध रहित, सत्य स्वरूप, चैतन्य स्वरूप तथा आनन्द स्वरूप है और ( अवधि द्वैत प्रणाशोज्झितम् ) क्रम

से जो ब्रह्म देश वस्तु काल कृत भेदसे रहित है अथवा भेद प्रपंच विनाश से रहित है ( यत् जाग्रत्स्वपन प्रसुप्तिषु ) ताटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण से बताया जो तत्पदार्थ ब्रह्म है सो ब्रह्म ही ( तत्सृष्ट्वा ) इत्यादि श्रुति प्रमाण से प्रत्यगात्म रूप हुआ है इस तात्पर्य को मन में लेकर अन्वय व्यतिरेक युक्ति से त्वंपदार्थ के संशोधन के बोधन का प्रकार सूचन किया जाता है, ( यत् ) वह प्रत्यगात्म ब्रह्म जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति रूप परस्पर व्यभिचारी अवस्थाओं में ( विभाति ) अनुगत रूप से भान होता है अर्थात् आपस में जाग्रत् आदिक अवस्थाओं के व्यभिचारी होने पर भी सो आत्मा व्यभिचार से रहित है, ( एकम् ) जाग्रत् आदि अवस्थाओं के भेद होने पर भी जो प्रत्यगात्म ब्रह्म भेद वाला नहीं है, ( विशोकम् ) शोक से रहित है अर्थात् आनन्दस्वरूप है, ( परम् ) तथा जाग्रत् आदिक तीनों अवस्थाओं के सम्बन्ध से रहित है ॥३॥

अब आचार्य वेदांत के अधिकारी को कहते हुए कर्तव्य भूत ग्रंथ रचने की प्रतिज्ञा करते हैं।

शिखरिणी छन्द ।

**अधीतेज्या दानव्रत जप समाधान नियमैर्विशुद्ध-स्वान्तानां जगदिदमसारं विमृशताम्। अराग-द्वेषाणामभय चरितानां हितमिदं मुमुक्षूणां हृद्यं किमपि निगदामः सुमधुरम् ॥४॥**

वेदाध्यन, यज्ञ, दान, तप, उपासना, इन्द्रियनिग्रह आदि से शुद्ध अन्तःकरण वाले, यह जगत असार है ऐसे

निश्चय वाले, रागद्वेष रहित तथा प्राणीमात्र को अभयदान देने वाले, मुमुक्षुओं के कानों को सुखदाता, हृदय को प्रिय और हित करने वाला तत्त्वार्थ अब हम कथन करते हैं ॥४॥

वेदाध्यन, यज्ञ, दान, व्रत, जप, उपासना, इन्द्रियनिग्रह आदिक साधनों से (विशुद्धस्वान्तानाम्) निर्मल अंतःकरण के जो अधिकारी हैं, अतएव (इदं जगत् असारम्) यह प्रत्यक्ष दीखने वाला जगत् स्वसत्ता से रहित है अर्थात् असत्य है इस प्रकार (विमृशताम्) निश्चय वाले हैं, अतएव (अरागद्वेषाणाम्) भोगों की इच्छा से और अन्य पुरुषों के अनिष्ट चिंतन रूप द्वेष से रहित हैं, अतएव (अभयचरितानाम्) प्राणीमात्र को भय न देनेवाली चेष्टावाले हैं अर्थात् संन्यासी हैं, अतएव (मुमुक्षूणाम्) मूलसहित अनर्थ की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्तिरूप मोक्ष की इच्छा वाले हैं, ऐसे अधिकारी मुमुक्षुजनों के (सुमधुरम्) कानों को अत्यंत सुख देनेवाले तथा (हृद्यम्) मन को सुख देनेवाले तथा (हितम्) उपकार करने वाले (किम् अपि इदम्) गोप्य तत्त्वार्थ वाले उपनिषदों के तात्पर्यरूप इस वक्ष्यमाण अध्यारोप, अपवाद और आगम करणरूप तीन प्रकरण रूप ग्रंथ को हम (निगदामः) स्पष्टरूप से कथन करते हैं ॥४॥

अब सर्व वेदांतों की प्रवृत्ति के मूलभूत अध्यास में परंपरा से श्रुति का प्रमाण दिया जाता है।

शालिनी छन्द।

ज्ञात्वा देवं सर्व पाशापहानि नान्यः पन्थाश्चेति-

**भूयोवचोभिः । ज्ञप्तेः साक्षान्मुक्ति हेतुत्व सिद्धावध्यासत्वं बन्धनस्यार्थसिद्धम् ॥५॥**

देव को जानकर सर्व बंधन की निवृति होती है इसके सिवाय मोक्ष के लिये और कोई मार्ग नहीं है। बंधन अध्यास से सिद्ध है इसीसे बहुत श्रुति वाक्यों से आत्मा का साक्षात्ज्ञान ही मुक्ति का हेतु है यह सिद्ध होता है॥५॥

(देवं) सत्य, आनन्द, अभिन्न, प्रकाशरूप और चैतन्य ब्रह्मरूप आत्मा को (ज्ञात्वा) अभेदरूप से साक्षात्कार करके (सर्व पाशापहानिः) सर्व पाशों का अर्थात् सर्व बंधनों का विनाश होजाता है तथा (नान्यः पंथाश्च) ज्ञान से भिन्न मुक्ति की प्राप्ति का और कोई भी साधन नहीं है, ज्ञान ही मुक्ति की प्राप्ति का एकमात्र मार्ग है—'पंथाश्च' में चकार अक्षर इस प्रकार के अर्थवाले यहांपर न कहे हुए श्रुति स्मृति वाक्यों के संग्रह करने के लिये है—(इति) इस अर्थ वाले (भूयो वचोभिः) बहुत ही श्रुतिस्मृति वाक्यों से (ज्ञप्तेः) ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानको (साक्षात्) व्यवधान के बिना ही (मुक्तिहेतुत्वसिद्धौ) बंधनिवृत्त की कारणता सिद्ध होने पर (बंधनस्य) दुःख का हेतु होने से बंधन रूप जगत् का (अध्यासत्वम्) शुक्ति रजत आदिकों की तरह आरोपित होना (अर्थसिद्धम्) अर्थसे सिद्ध होता है, क्योंकि आरोपित वस्तु की ही लोक में ज्ञान से निवृत्ति देखी है, सत्य वस्तु की नहीं ॥५॥

शंका—जैसे लोक में भेदन, प्रहार आदिक क्रिया द्वारा ही भाव पदार्थों का नाश देखा गया है, तैसे ही भावरूप जगत् का नाश भी शास्त्रविहित पुण्यकर्मों से ही हो सकता है, क्योंकि

कर्मों को मुक्ति की साधनता के उपपादक श्रुति स्मृति रूप शास्त्र का प्रत्यक्ष दर्शन है। इसलिये सुख भोग के प्राप्त करने वाले पुण्य कर्म से बंध के नाश होजाने पर पूर्व उक्त जगत् का मिथ्यात्व सिद्धि नहीं हो सकता। इस शंका का आगे समाधान किया जाता है—

स्रग्धरा छन्द।

**सत्यं भावं न वित्तिर्व्यपनुदति यतः कर्मनाश्यो घटादि र्मिथ्याभूतं च कर्म क्षपयति न तथा वित्तिघात्यं यतस्तत्। इत्थं सिद्धे विभागे श्रुति शिखरगिरा वित्तिघात्यः प्रतीतो बन्धो मिथ्येति सिद्धे न तदपहृतये कर्मजातं समर्थम् ॥६॥**

घटादि सत्यपदार्थ को ज्ञान निवृत्त नहीं करता तैसे आरोपित मिथ्यापदार्थ को कर्म निवृत्त नहीं करता, वह तो अधिष्ठान के ज्ञान से ही नष्ट होता है। ऐसा भेद होने से वेदान्तवाक्यों में निश्चित किया हैं कि बंधन मिथ्या है इससे कर्म बंधन को नाश करने में असमर्थ है ॥६॥

लोक में ( घटादिः ) घटपटादि भाव पदार्थ ( कर्मनाश्यः ) प्रहार आदिक क्रिया करके नाश होजाता है। ( यतः ) जिस कारण से ( वित्तिः ) वस्तु का यथार्थ ज्ञान ( सत्यम ) अनारोपित ( भावम् ) भाव पदार्थ को ( न व्यपनुदति ) नाश नहीं करता ( तथा ) तैसे ही ( कर्म ) क्रिया भी ( मिथ्याभूतम् ) आरोपित शुक्ति रजत आदि पदार्थ को ( न

क्षपयति ) नाश नहीं करता ( यतः ) उसी कारण से लोक में ( तत् ) वह मिथ्या भूत वस्तु ( वित्ति घात्यम् ) अधिष्ठान के यथार्थ ज्ञान से ही नष्ट होती है। ( इत्थम् ) इस प्रकार से ( विभागे सिद्धे ) वस्तु स्वभाव भेद के सिद्ध होने पर ( श्रुति शिखरगिरा ) वेदान्त वाक्य प्रमाण से बंध ( वित्तिघात्यः ) ज्ञान से विनाश्य है। इस प्रकार ( प्रतीतः ) निश्चितरूप से जाना हुआ ( बंधोमिथ्या ) दुःखरूप संसार बंध मिथ्या है ( इति ) इस प्रकार ( सिद्धे ) सिद्ध होने पर ( तत् अपहतये ) उस दुःखरूप संसार की निवृत्ति के लिये ( कर्म जातम् ) अग्निहोत्रादिक रूप पुण्यकर्मों का समूह ( न समर्थम् ) समर्थ नहीं है ॥६॥

शंका—वस्तु स्वभाव बल से आरोपित भावपदार्थ की की निवृत्ति ज्ञान से होती है ऐसा मानने पर भी जगत् बंध की निवृत्ति ज्ञान से नहीं हो सकती, क्योंकि अज्ञान का ही बिरोधी ज्ञान है जगत् का बिरोधी नहीं। इस शंका का समाधान करते हुए आचार्य अधिकारी को ज्ञान के उपाय में प्रवृत्त करते हैं।

**आविद्यो ह्येष बन्धो विरमति न विना वेदनं कर्म जालै र्मालोद्भूतोऽहिरस्तं व्रजति किमु नमस्कारमंत्रौषधाद्यैः। एवं निश्चित्य नागस्त्वचमिव विधिना कर्म बन्धं विधूय ज्ञानोपाये गुरु श्रीचरणमभिगतः सेवमानो ययेत ॥७॥**

अविद्या का बंधन है इससे वह अधिष्ठान के ज्ञान बिना निवृत्त नहीं होता। माला में आरोपित सर्प, नमस्कार

**मंत्र, औषधादि कर्म से क्या निवृत्ति होता है? नहीं होता। ऐसा निश्चय करके जैसे सर्प जीर्णत्वचा को त्यागता है वैसे कर्मबंधन को त्याग कर श्रीगुरु चरणकमल का सेवन और सामीप्य से ज्ञानोपाय में लग ॥७॥**

(गुरु श्रीचरणम्) तत्त्वनिष्ठ गुरुओं के श्रीचरणों को (अभिगतः) संमुखता को प्राप्त होकर (सेवमानः) सेवन करता हुआ अर्थात् श्रद्धाभक्ति से श्रीगुरुओं के चरणों की सेवा करता हुआ (ज्ञानोपाये) ज्ञान के साधनरूप श्रवण आदिकों में (यतेत) यत्न करे। (एवम्) उक्त प्रकार का (निश्चित्य) निश्चय करके अर्थात् आरोपित वस्तु अधिष्ठान के ज्ञान से ही नाश होती है इस प्रकार का निश्चय करके तथा (विधिना) शास्त्रोक्त विधि से (कर्म बन्धम्) कर्म बंधन को (विधूय) त्याग करके, किस प्रकार? जैसे (नागः) सर्प (त्वचम्) जीर्णत्वचा को अर्थात् पुरानी कांच को त्याग देता है, तैसे ही कर्मबंधन को त्यागे, क्योंकि कल्पितवस्तु की निवृत्ति कर्मों से नहीं होती। इसमें दृष्टांत को स्मरण कराते हैं। (मालोद्भूतः) माला में कल्पित (अहिः) सर्प (नमस्कार मंत्रौषधाद्यैः) नमस्कार, मंत्रऔषधि, गरुड़ध्यान आदिक उपायों से (अस्तम्) नाश को (किमु व्रजति) क्या प्राप्त होता है? तैसेही (एष बंधः) यह संसार बंध (वेदनं विना) अधिष्ठान के सम्यक् ज्ञान के विना (कर्म जालैः) कर्म समूह से (न विरमति) विनाश को नहीं प्राप्त होता (हि) क्योंकि यह बन्ध (आविद्यः) अविद्या से उत्पन्न हुआ है अर्थात् अज्ञानमूलक है। भाव यह है कि श्रुति स्मृति आदि में जो कहा गया है कि संसार बंध की निवृत्ति ज्ञान ही से होती है, उसकी उपपत्ति संसार बंधको अज्ञानमूलक

माने बिना नहीं हो सकती ॥७॥

अन्य मतों के साधनोंका अनुवाद करके दूषित करते हैं—

**केचित्कर्मैव काम्योज्झित मुदित पद प्राप्त्युपायं प्रतीतास्तच्चोपास्ति च मुक्तौ मिलितमथ परे साधनं संगिरन्ते। अन्ये तु ज्ञान कर्मोभय मितिमतिभिः स्वाभिरुत्प्रेक्षमाणा ज्ञानादेवेति वाक्याद्वयमिह सहसा नानुमन्यामहे तान् ॥८॥**

कोई कामनारहित कर्म को ही मुक्ति का साधन निश्चय करते हैं, कोई कर्म और उपासना दोनों को मुक्ति का साधन कहते हैं और कोई कर्म और ज्ञान दोनों साथ मुक्ति का साधन कहते हैं। इस प्रकार अपनी बुद्धि के अनुसार वेदार्थ की कल्पना करते हैं। "केवल ज्ञान से कैवल्य की प्राप्ति होती है" इस श्रुतिवाक्य के अनुसार बिना विचार ही हम उनका यहां अंगीकार नहीं करते ॥८॥

( केचित् ) भाट्ट के एकदेशी और प्राभाकर इस प्रकार ( प्रतीताः ) निश्चय करते हैं कि ( काम्योज्झितम् ) फल की इच्छा को न करके किया हुआ नित्य नैमित्तिक ( कर्मैव ) कर्म ही ( उदित पद प्राप्त्युपायम् ) पूर्व कथन की हुई मुक्ति का साधन है। ( अथपरे ) इन उक्त मतवालों से अनंतर भर्तृप्रपंच, भास्कर आदिक विद्वान् ( तत् च उपास्तिंच ) अग्निहोत्रादि कर्म और प्राणादि उपासना, यह दोनों ( मिलितम् )

मिलकर ( मुक्तौ ) मुक्तिमें ( साधनम् ) साधन है, इस प्रकार ( संगिरन्ते ) कहते हैं । ( अन्येतु ) उक्त भर्तृ प्रपंच आदिकों के अतिरिक्त एक देशी जिनका निर्देश पहले हुआ है, ( ज्ञान कर्मोभयम् ) ज्ञान और कर्म दोनों मुक्ति में साधन हैं (इति ) इस प्रकार कथन करते हैं। अब इन उक्त मतों की अप्रमाणिकता कही जाती है ।

( स्वाभिः ) अपनी ही ( मतिभिः ) बुद्धी से ये सब उक्त आचार्य वेद के अर्थ की (उत्प्रेक्षमाणाः ) कल्पना करते हैं, तत्त्व वेताओं के दिखलाये हुए मार्ग से नहीं। इसलिये ( ज्ञानादेव ) 'ज्ञानादेवतु कैवल्यम्' ज्ञान से ही देह राहित्य रूप कैवल्य मोक्ष होता है ( इति वाक्यात् ) इस वाक्य रूप प्रबल प्रमाण से ( इह )मुक्ति साधन के विचार में ( वयम् ) हमलोग ( सहसा ) शीघ्र ही ( तान् ) उन उक्त आचार्यों के कल्पना-प्रपंचों को ( न अनुमन्यामहे ) अंगीकार नहीं करते । भाव यह है कि कर्म अज्ञान जन्य है और सम्यक्ज्ञान अज्ञान का विरोधी है, इसलिये भी कर्मों से मुक्ति नहीं होसकती कर्मों का फल चार प्रकार का देखा गया है जैसे कुलाल की क्रियाका फल घटादिक है, पुरुष की गमन क्रिया का फल प्राप्य ग्रामादिक है, वस्त्र की प्रक्षालन क्रिया का फल मलकी निवृत्तिरूप संस्कार के योग्य वस्त्रादिक संस्कार्य है और पाक क्रिया का फल अन्य रूप की प्राप्ति वाले अन्नादिक विकार्य है। मोक्ष उत्पाद्य नहीं क्योंकि नित्य आत्म स्वरूप मोक्ष है, प्राप्यभी नहीं क्योंकि अपना स्वरूप होने से नित्य प्राप्त है, संस्कार्य भी नहीं क्योंकि नित्य शुद्ध आत्म स्वरूप ही मोक्ष है। विकार्य भी नहीं क्योंकि एकरस रूपांतर रहित आत्मस्वरूप मोक्ष है। कर्म उपासना मिलित पक्ष भी उक्त युक्ति से ही असंभव है और ज्ञान कर्मों का सम

समुच्चय पक्ष भी असंभव है क्योंकि ज्ञान और कर्म के साधन, स्वरूप तथा फल इनका प्रकाशतम के सदृश विरोध है।

शंका—यदि कर्म वा उपासना मोक्ष के कारण नहीं है तो शास्त्र उनको मोक्ष का कारण क्यों बताता ?

समाधान—ज्ञान अविक्षिप्त शुद्ध अन्तःकरण में होता है, विक्षेप और पापरूप मल की निवृत्ति कर्म और उपासना से ही होती है, इस प्रकार परंपरा से कर्म उपासना मोक्ष के कारण है, यह शास्त्र का तात्पर्य है ॥८॥

नित्य नैमित्तिक कर्मों को श्रुति वाक्य बल से फलांतरों की कारणता होने पर भी मोक्ष की साक्षात् कारणता नहीं हैं, इस बात को अब बतलाया जाता है।

**पैत्रो लोकोऽधिगम्यः क्रतुभिरधिगतो विद्यया देवलोको यद्वा चेतः कषायक्षपणमिह तयोः स्मार्तमेवास्तु साध्यम्। यज्ञेनेत्यादि वाक्याद्भवतु विविदिषा वेदनं तत्फलं वा ज्ञानादेवामृतत्वं नहि शशक वधुः सिंह पोतं प्रसूते ॥९॥**

नित्य नैमित्तिक कर्म करने से पितृलोक की प्राप्ति होती है और उपासना से देवलोक की प्राप्ति होती है। अथवा कर्म और उपासना का कषाय पकहोनेरूप फल से अन्तःकरण के मलदोष की निवृत्ति होती है, अथवा यज्ञ दान से ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा होती है और ज्ञान

इसका ( परम्परा से ) फल है, परन्तु मोक्ष तो ज्ञान से ही होता है। शशिनी कभी भी सिंह बालक को जन्म नहीं दे सकती ॥६॥

( पैत्रोलोकः ) पितृलोक ( क्रतुभिः ) नित्य नैमित्तिक याग आदिक कर्मों से ( अधिगम्यः ) प्राप्त किया जाता है, और तैसेही ( विद्यया ) उपासना से ( देवलोकः ) स्वर्गलोक ( अधिगतः ) प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार श्रुति वचन से निश्चय किया गया है ( यद्वा ) अथवा, ( तयोः ) उस विद्या और कर्म का ( साध्यम् ) फल ( स्मार्तम् ) 'कषाय पक्ति कर्माणि' इत्यादि स्मृति द्वारा कहा हुआ ( चेतः कषाय क्षपणम् ) राग द्वेष आदिक संस्कार रूप अन्तःकरण गत मल का नाश ही ( इह ) विवेकी पंडित मंडल में ( अस्तु ) अभिमत हो। अथवा, (यज्ञेनेत्यादि वाक्यात् ) यज्ञ करके तथा दान करके वेदन की इच्छा को अर्थात् ज्ञान की इच्छा को करते हैं, इत्यादिक वेद के वचन से ( विविदिषा ) ज्ञान की इच्छा ( वेदनंवा ) अथवा ज्ञान ही (तत्फलम् ) उन नित्य आदिक कर्मों का फल ( भवतु ) हो; क्योंकि यज्ञ आदिकों के अन्वय का विविदिषा में आत्म ज्ञान की इच्छा में और पदार्थ ज्ञान की इच्छा में विकल्प है। तथापि ( अमृतत्वम् ) मोक्ष तो ( ज्ञानादेव ) ज्ञान से ही होता है इस लिये कर्म मोक्ष की साधनता की परंपरा में होने पर भी वे साक्षात् साधन नहीं हैं, ( हि ) क्योंकि वस्तु स्वभाव प्रबल है। ( शशकवधुः ) शशे की स्त्री अर्थात् खरगोश की मादा शशी ( सिंह पोतम् ) सिंह के बालक को ( न प्रसूते ) उत्पन्न नहीं करती, किंतु खरगोश को ही उत्पन्न करती है। तैसे ही कर्म उपासना भी उक्त फलों को ही उत्पन्न करते हैं, मोक्षको नहीं ॥९॥

ज्ञान और कर्म को समकाल में ही मिल करके मुक्ति की कारणता नहीं है, क्योंकि कर्म का अधिकारी अन्य है और ज्ञान का अधिकारी अन्य है। इस बात को भी पूर्व उक्त उपहास जनक दृष्टांतकी तरह अब भी उपहासके साथ ही बतलाया जाता है।

**अर्थी दक्षो द्विजोहं बुध इति मति मान् कर्म-सूक्तोऽधिकारी शान्तो दान्तः परिव्राडुपरम-परमो ब्रह्मविद्याऽधिकारी। इत्थं भेदे विचक्ष-न्समुदितमुभयं मुक्ति हेतुं सुशीतं नीरं वैश्वा-नरं चोभयमहह तृषोच्छेद कामः पिबेत्सः ॥१०॥**

धनकी इच्छा वाला, चतुर, ब्राह्मण आदि मैं हूं, पंडित मैं हूं, ऐसे अभिमान वाला कर्म करने का अधिकारी है और शमदमवाला तथा परम उपरामको प्राप्त हुआ संन्यासी ब्रह्मविद्या का अधिकारी है। इस प्रकार भेद होने पर भी जो ज्ञान कर्म दोनों को साथ २ मुक्ति का कारण मानता है, हाय! वह वैसा है जैसे प्यासा मनुष्य प्यास बुझाने के लिये शीतल जल के साथ अग्नि का एक साथ पान करता है ॥१०॥

( अर्थी ) गो सुवर्ण आदिक धन वाला और ( दक्षः ) सब अंगों के सहित होने से तथा चतुर होने से क्रिया में समर्थ ( द्विजोऽहम् ) मैं ब्राह्मण हूं, वा क्षत्रिय हूं, वा वैश्य हूं,

(बुधः) पंडित हूं (इति मतिमान्) इत्यादि उक्त प्रकार के अभिमान वाला पुरुष ही कर्म मीमांसा शास्त्र में (कर्मसु अधिकारी उक्तः) कर्मों में अधिकारी कहा है तथा (शान्तः) राग द्वेष आदिकों से रहित और (दान्तः) बाह्य और अन्तर इन्द्रियों के निरोध वाला (परिव्राट्) सर्व ओर से विधिपूर्वक सर्व धन धान्यादिकों को दुःख का साधन जानकर त्यागने वाला अर्थात् संन्यासी और (उपरम परमः) देह धारण में समथ भिक्षा आदिक व्यापार से भिन्न व्यापार मात्र के त्याग स्वभाव वाला वेदान्तों में (ब्रह्म विद्याधिकारी) ब्रह्म ज्ञान का अधिकारी कहा है। (इत्थम्) इस उक्त प्रकार से (भेदे) कर्मों के और ब्रह्मज्ञान के अधिकारी के भेद सिद्ध होने पर अर्थात् भिन्न-भिन्न विशेषण वाले अधिकारी के सिद्ध होने पर (उभयम्) ज्ञान और कर्म ये दोनों ही (समुदितम्) एक ही कालमें मिलकर (मुक्तिहेतुं विवक्षन्) मुक्ति के कारण हैं इस प्रकार जो कोई वादी कहने की इच्छा करता है, (सः) सो वादी (अहह) बड़ा खेद है कि (तृषोच्छेद कामः) पिपासा अर्थात् प्यास की निवृत्ति की इच्छा वाला हुआ (सुशीतं नीरं वैश्वानरंच) अति शीतल जल और अति गर्म अग्नि (उभयम्) इन दोनों को (पिबेत्) एक साथ ही मिलाकर पान करेगा यह संभावना है! भाव यह है, जैसे जल और अग्नि का प्यास दूर करने में समुच्चय विरुद्ध है, तैसे ही संसार बंध की निवृत्ति करने में ज्ञान और कर्म का सम-समुच्चय विरुद्ध है ॥१०॥

अब उक्त मोक्षके कारणभूत ज्ञानके स्वरूपादिकों को बताते हुए असंभावना को निवृत्ति के लिए विचार ही कर्तव्य है इस वार्ता को बतलाते हैं—

**ज्ञानं चाप्यद्वितीय स्वरस सुख घनानन्त**

चिन्मात्र रूप ब्रह्मात्मैकत्व बोधः स भवति सुमतेस्तत्त्वमस्यादि वाक्यात् । देहाद्यध्यास दार्ढ्याच्छ्रुतमपि सहसा नैव संभावनीयं ब्रह्मत्वं स्वस्य तस्मान् नय गुरु वचनैः साधु मीमांसनीयम् ॥११॥

अपना सार भूत अद्वितीय, सुखरूप, अनंत, चेतनमात्र परब्रह्म और आत्माकी एकताका जो अनुभवरूप बोध तत्त्वमस्यादि वाक्य के श्रवण से बुद्धि वाले को होता है वह ज्ञान है, फिर भी अपना ब्रह्मत्व स्वरूप का बोध देहादिक के दृढ़ अध्यास के कारण सहज में संभवनीय नहीं है इसीसे गुरु उपदेशानुसार सज्जन पुरुष विचार करे ॥११॥

( अद्वितीय ) सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद से रहित ( स्वरस ) स्वयं सारभूत (सुखघन )सुखैक मूर्ति (अनन्त) देशकृत, कालकृत, तथा वस्तुकृत भेदसे रहित, सर्व परिच्छेद शून्य (चिन्मात्र) चैतन्य स्वरूप ( ब्रह्मात्मैकत्व बोधः ) ब्रह्म आत्मा का जो अभेद अनुभव है वह अभेदानुभव ( अपि ) ही ( ज्ञानम् ) ज्ञान है अर्थात् उक्त लक्षण वाला ब्रह्मात्मा के एकत्व बोध का ही नाम ज्ञान है । ( सः ) सो उक्त लक्षण ज्ञान ( सुमतेः ) शुद्ध बुद्धि वाले मुख्याधिकारी पुरुष को ( तत्त्वमस्यादिवाक्यात् ) जीव ब्रह्म की एकता के बोधक तत्त्वमसि ( सो ब्रह्म तू है ) आदिक महावाक्यों से ( भवति ) होता है । ( श्रुतमपि स्वस्य ब्रह्मत्वम् ) सो वह अपनी ब्रह्म रूपता तत्त्वमस्यादि महा वाक्यों द्वारा सुनी हुई तथा

अनुभव की हुई भी ( देहाध्यास दार्ढ्यात् ) असंख्य जन्मों में द्वैत वासना से देह पुत्र आदिकों में अहंता ममता रूप तादात्म्याध्यास के दृढ़ होने से अर्थात् विपरीत भावना के दृढ़ होने से ( सहसा ) शीघ्र ही ( नैव संभावनीयम् ) संभावित नहीं की जाती। भाव यह है कि उत्पन्न हुआ भी सो ब्रह्मात्मा का एकत्व ज्ञान जिन अधिकारियों के विपरीत भावना और असंभावना से प्रतिबद्ध होता है उन अधिकारियों को ( तस्मात् ) उक्त लक्षण ज्ञान के प्रतिबद्ध होने रूप हेतुसे ( नय गुरुवचनैः ) युक्ति कर और श्रीगुरु के उपदेशों से ( साधु ) जैसे हैं तैसे ही ( मीमांसनीयम् ) अपनी ब्रह्म रूपताके निश्चय पर्यन्त विचार करना चाहिए ॥११॥

अब पहिले विचारके अंग भूत जीवके विषय में अनेक मतों को दिखलाया जाता है।

शार्दूल विक्रीडित छंद।

**देहं केऽपि वदन्ति खानि तुपरे प्राणान् मनश्चापरे बुद्धिं च क्षणिकां स्थिरामथ परे केचित् चितं निःसुखाम्। आत्मानं जड चित्स्वभावमपरे चिद्व्ज्जडं चेतरे सत्य ज्ञानसुखाद्वितीयमपरे तत्रास्य को निश्चयः ॥१२॥**

कोई देह को, कोई इन्द्रिय को, कोई प्राण को, कोई मन को, कोई क्षणिक बुद्धि को और कोई स्थिर बुद्धि को आत्मा कहते हैं। कोई सुख दुःखादि रहित चेतनमात्र को आत्मा कहते हैं, कोई चिज्जड स्वभाव वाला,

कोई आत्मा चित्‌जड़ रूप और कोई सत्य ज्ञानानंद अद्वितीय है ऐसा कहते हैं। इनसे क्या निश्चय होता है? कोई भी नहीं ॥१२॥

( केपि ) कोई नास्तिक चार्वाक ( देहम् ) इस स्थूल शरीरको ही आत्मा ( वदन्ति ) कहते हैं। ( परे ) दूसरे चार्वाक ( खानि ) इन्द्रियों को ही आत्मा कहते हैं। ( अपरे ) दूसरे हैरण्यगर्भ ( प्राणान् ) पंच विध वृत्ति वाले प्राणों को ही आत्मा कहते हैं। ( अपरे ) इससे भिन्न और कोई ( मनः ) को ही आत्मा कहते हैं। ( परे ) दूसरे वैनाशिक बौद्ध ( क्षणिकां बुद्धिं ) दीप कलिकावत् क्षण क्षण में नाश होने वाली वृत्ति ज्ञान रूप बुद्धि को ही आत्मा कहते हैं, ( परे ) बौद्धों से भिन्न भास्करादिक पंडित जन ( स्थिरां बुद्धिं ) विज्ञानमय कोशको ही आत्मा कहते हैं ( केचित् ) और कोई सांख्य पातंजलादिक ( निःसुखाम् ) सुख दुःखादिकों के संबंध से रहित ( चितम् ) चिन्मात्र आत्मा है, ऐसा कहते हैं। ( अपरे ) और दूसरे भाट्ट ( जड़ चित्स्वभावम् आत्मानम् ) जड़ और चेतनरूप आत्मा है ऐसा कहते हैं। (इतरे) इनसे भिन्न प्राभाकर और नैयायिक आदिक ( चिज्जड़म् ) चिद् युक्त ज्ञान गुणक जड़ द्रव्य रूप आत्मा है ऐसा प्रतिपादन करते हैं ( अपरे ) और इन सब से भिन्न वेदांत मत वाले ( सत्य ज्ञान सुखाद्वितीयम् ) आत्मा निर्विशेष नित्य ज्ञानानन्द स्वरूप है ऐसा कहते हैं। ( तत्र ) उक्त पक्षों में ( अस्य ) इस जिज्ञासु को ( को निश्चयः ) क्या निश्चय हो सकता है? कोई भी निश्चय नहीं हो सकता ॥१२॥

**आहुः केचिदणुं शरीर सदृशं केचिद्विभुं तं परे ते**
**तं मानस गोचरं तदपरे नित्यानुमेयं जगुः।**

**अन्ये चिद्विषयं परे तु परम स्वज्योतिराभ्यंतरं सत्येव श्रुति युक्तिभिर्विविदिषोयुक्तो विचारो मुहुः ॥१३॥**

कोई उस आत्मा को अणु कहते हैं, कोई शरीर के समान कहते हैं और कोई विभु कहते हैं। ये तीनों उसे मानस गोचर कहते हैं और इनसे भिन्न कोई आत्मा को नित्य और अनुमान गम्य कहते हैं। कोई अन्य वृत्ति ज्ञानको प्रकाशने वाला कहते हैं और कोई आभ्यन्तर परमात्म ज्योति स्वरूप कहते हैं, ऐसा मत भेद है। इसलिये मुमुक्षुओं को श्रुति युक्ति से वारंवार विचार करना चाहिये ॥१३॥

(केचित्) पाशुपत पांचरात्र आदिक शास्त्र के कई पंडित जन (तं) उस आत्मा को (अणुम्) परमाणु परिमाण वाला (आहुः) कहते हैं। (केचित्) कोई जैन मत वाले (देह सदृशम्) उस आत्मा को जितना शरीर लम्बा चौड़ा है उतने ही परिमाण वाला कहते हैं। (परे) उनसे भिन्न नैयायिक आदिक उस आत्मा को (विभुम्) व्यापक कहते हैं। (ते) ये उक्त तीनों वादी (तम्) उस आत्मा को (मानसगोचरम्) मानस प्रत्यक्ष का विषय (जगुः) कहते हैं और (तदपरे) इनसे भिन्न सांख्यादि मत वाले उस आत्मा को (नित्यानुमेयम्) विषयों को वह प्रकाश करता है इत्यादि हेतु से केवल अनुमान गम्य कहते हैं। (अन्ये) इनसे भिन्न वैनाशिक बौद्ध (चिद्विषयम्) उस आत्मा को वृत्ति ज्ञान से प्रकाश्य कहते हैं

और ( अपरे ) वेदांत शास्त्र के मानने वाले आचार्य उस आत्मा को ( आभ्यंतरम् ) अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमय आनन्दमय इन पांच कोशों के अन्तरस्थित ( परम ज्योतिः ) सर्व प्रकाशों से उत्कृष्ट स्वयं प्रकाश रूप कहते हैं। ( एवं सति ) इस उक्त प्रकार से मत भेदों के होने पर ( विविदिषोः ) जिज्ञासु को ( श्रुति युक्तिभिः मुहुः ) श्रुति और युक्तियों की सहायता से पुनः पुनः साक्षात्कार पर्यन्त ( विचारः युक्तः ) विचार ही करना योग्य है ॥१३॥

अब विचारांग जीव-विवाद के अनन्तर विचारांग भूत ईश्वर के विषय में भी अनेक मत दिखलाये जाते हैं।

स्रग्धरा छन्द।

**एवं विश्वस्य हेतुं प्रकृति मभिदधुः केपि केचित् पराणूनीशेनाधिष्ठितांस्तान्कतिचन कतिचिन्नश्वर ज्ञानमेव । अन्ये शून्यं स्वभावं कतिचन समयं केपि केचिद्यदृच्छां कर्मान्ये ब्रह्ममायाशबलित-मपरे सोपि तस्माद्विमृश्यः ॥१४॥**

कोई प्रधान को ही विश्व का हेतु कहते हैं, कोई ईश्वर प्रेरित परमाणु को, कोई क्षणिक विज्ञान को, कोई शून्य को, कोई स्वभाव को, कोई काल को, कोई इच्छा को, कोई कर्म को तथा कोई माया सहित ब्रह्म को जगत् का कारण कहते हैं। ऐसा भेद होने से जिज्ञासु को इसका विचार करना चाहिये ॥१४॥

( एवम् ) जीवात्मा की तरह जगत् कारण रूप ईश्वर में भी मत भेद हैं, वे अब दिखाये जाते हैं । ( केपि ) कोई कपिल मत वाले आचार्य ( प्रकृतिम् ) प्रधान को ही ( विश्वस्य हेतुम् ) जगत् की उपादान कारण (अभिदधुः) कहते हैं और ( केचित् ) बौद्ध मत वाले तथा जैन आर्हत मत वाले नास्तिक लोग ( परा-णून् ) वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इन भूत चतुष्टय के पर-माणुओं को ही ( विश्वस्यहेतुं अभिदधुः ) जगत् का उपादान कारण कहते हैं। इस प्रकार विश्वस्य इस पाठ का सर्वत्र अन्वय कर लेना । ( कतिचन ) पांतजल महर्षि के मत वाले, कणाद महर्षि के मत वाले तथा गौतम महर्षि के मत वाले आचार्य ( ईशेनाधिष्ठितान् ) ईश्वर करके प्रेरे हुए परमाणुओं को तथा ईश्वर की प्रेरी हुई प्रकृति को जगत् का उपादान कारण कहते हैं। इनमें ईश्वर प्रेरित प्रकृति जगत् का कारण है यह पांतजलों का मत है ऐसा विभाग जान लेना । श्लोक में 'ईश्वराधिष्ठित' पद के ईश्वर शब्द को एक शेष द्वंद्व समझना चाहिये, जिससे उस संपूर्ण पद का अर्थ 'ईश्वर और प्रकृति से अधिष्ठित' ऐसा होता है ।

( कतिचित् ) और कोई विज्ञानवादी नास्तिक बौद्ध ( नश्वर ज्ञानमेव ) क्षणिक विज्ञान को ही जगत् का कारण कहते हैं, ( अन्ये ) इन बौद्धों से भिन्न माध्यमिक नाम वाले नास्तिक बौद्ध ( शून्यम् ) शून्य को ही जगत् का कारण कहते हैं और ( कतिचन ) कोई नास्तिक लोकायतिक ( स्वभावम् ) स्वभाव को ही जगत् का कारण कहते हैं। यहां पाठान्तर में ( हैरण्यगर्भं ) हैरण्यगर्भ को ही जगत् का कारण कहते हैं, यह अर्थ है। ( केपि ) कोई मौहूर्तिक अर्थात् महूर्त शोधने वाले ज्योतिष-शास्त्रवेत्ता आचार्य ( समयम् ) काल को ही जगत् का कारण कहते हैं। ( केचित् ) कोई पंडित जन ( यदृच्छा ) यदृच्छा

को ही जगत् का कारण कहते हैं। अर्थात् यह जगत् अकस्मात् होजाता है, इस प्रकार कहते हैं। ( अन्ये ) दूसरे कर्म मीमांसा मत वाले आचार्य ( कर्म ) कर्मों को ही जगत् का कारण कहते हैं और (अपरे) जिनके आगे अब और कोई भी मत श्रेष्ठ नहीं है, ऐसे वेदांताचार्य ( माया शबलितम् ) माया से प्राप्त है विचित्र भाव जिस ब्रह्मको ऐसे ( ब्रह्म ) माया शबलित ब्रह्म को ही जगत् का अभिन्न निमित्त उपादान कारण कहते हैं। इस प्रकार जगत् के कारण विषय में मत भेद हैं। ( तस्मात् ) इसलिये ( सोपि ) उसका भी ( विमृश्यः ) जिज्ञासु जन को विचार करना आवश्यक है अर्थात् जीवात्मा के विचारने से तथा जगत् के कारण भूत ईश्वर के विचारने से जिज्ञासु को तत् पदार्थ और त्वं पदार्थ का ज्ञान सम्यक् होजाता है। तत् पदार्थ और त्वं पदार्थ के सम्यक् ज्ञान होने से महावाक्य के अर्थ का सम्यक् बोध होजाता है, इसलिये जिज्ञासु को जीव-ईश्वर का विचार करना आवश्यक कर्तव्य है ॥ १४ ॥

स्वमत सर्वस्व रूप ब्रह्म को लक्षण और प्रमाण से बोधन करने के लिये आवश्यक सब बातें कहते हैं—

**यस्मादुत्पत्ति गुप्ति च्युति रपि जगतां यच्च शास्त्रैक योनिः सर्वज्ञं मायया यत्सहज सुख सदद्वैत संवित्स्वरूपम्। तद्ब्रह्मस्वप्रकाशं श्रुति शिखर गिरां सैव तात्पर्यभूमिः स्वात्मासौ यं विदित्वा जनिमृति जलधिं निस्तरंतीह सन्तः ॥१५॥**

जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय जिससे मायाद्वारा होता है, जो केवल शास्त्र प्रमाण से ही जाना जाता है, जो सर्वज्ञ है, जो सहज सुखरूप है, जो अद्वैत ज्ञान स्वरूप है, जो स्वप्रकाश है, तथा वेदान्त वाक्यों में जिसका मुख्य लक्ष्य किया गया है, वह ब्रह्म है और वही आत्मा है। उसको जानकर महात्मा जन्म मरणरूप समुद्र से इसी जन्म में तैर जाते हैं ॥१५॥

( जगताम् ) सर्व कार्यों की ( उत्पत्ति गुप्ती ) उत्पत्ति और पालन ( अपि ) तथा ( क्षतिः ) नाश ( मायया ) माया से ( यस्मात् ) जिस मायाशबल ब्रह्मसे होते हैं और ( यत् मायया शास्त्रैक योनिः ) जो ब्रह्म माया के सहित होने से केवल शास्त्र प्रमाण से ही जाना जाता है, ( सर्वज्ञम् ) जो ब्रह्म सर्वज्ञ है अर्थात् सामान्य तथा विशेष रूप से सर्व को जानने वाला है, ( यत् सहज सुख ) जो ब्रह्म स्वभाव भूत सुख स्वरूप है, ( सदद्वैत संवित्स्वरूपम् ) जो ब्रह्म नित्य द्वैत संबन्ध से रहित और ज्ञान स्वरूप है, ( तत् ब्रह्म ) जो ब्रह्म तत्त्वमसि आदि वैदिक महावाक्योंमें तत् पदसे कहा गया है, ( स्वप्रकाशम् ) जो ब्रह्म स्वयं प्रकाश रूप है तथा ( श्रुति शिखर गिराम् ) सर्व वेदांत वाक्यों के ( सा एव तात्पर्य भूमिः ) तात्पर्य का जो एक मात्र लक्ष्य है ( असौ ) सो यह ब्रह्म ही ( स्वात्मा ) अपना स्वरूप है, ( यम् ) जिस ब्रह्म रूप निज आत्मा को ( विदित्वा ) जान करके ( सन्तः ) ब्रह्मवेत्ता महात्मा लोग ( जनिमृति जलधिं ) जन्म मरण रूप समुद्र को ( इह ) इसी जन्म में ( निस्तरंति ) नितरां तर जाते हैं ॥१५॥

अब अन्यान्य वादियों ने जो जो जगत् के कारण अपनी अपनी कल्पना से कहे हैं उन कारणों की अयोग्यता को और श्रुति स्मृति प्रसिद्ध स्वोक्त माया शबल ब्रह्म रूप कारण की योग्यता को कहते हैं—

**सांख्यैः प्रख्यापितं न क्षममिह जगतां निर्मितौ तत् प्रधानं हेतु नैंताहृशेऽर्थे प्रभवति गदितस्तार्किकैरीश्वरोपि । नाणुः काणाद बौद्ध क्षपणाक भणितो नापि निःसाक्षि शून्यं तस्मादास्माकमेव श्रुति गदित परब्रह्म सिद्धं निदानम् ॥१६॥**

सांख्यशास्त्र में इस जगत् की रचना जिस प्रधान से कथन की है वह प्रधान जगत् की रचना करने में असमर्थ है, तार्किकों का कहना है कि जगत् की रचना में ईश्वर निमित्त कारण है यह भी नहीं हो सकता, कणाद बौद्ध अणु का कथन करते हैं वह भी इसमें असमर्थ है और साक्षी रहित शून्य भी जगत्की रचनामें असमर्थ है, इसीसे हम श्रुति में कथन किये हुए परब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादन कारण मानते हैं। यह सिद्ध हुआ ॥१६॥

( इह ) इस कारण—वाद विषय में जो ( सांख्यैः ) कपिल और पतंजलि महर्षि के मत वाले आचार्यों ने ( जगताम् ) इस

सकल जगत् रूप कार्य की ( निर्मितौ ) उत्पत्ति करने में ( प्रख्यापितम् ) हेतु रूप से जिसका प्रतिपादन किया है ( तत् प्रधानम् ) वह प्रधान उन जगत् रूप कार्यों की उत्पत्ति करने में (न क्षमम्) समर्थ नहीं है। वैसे ही ( तार्किकैः ) केवल श्रुति विरुद्ध अनिष्ट प्राप्त करने वाले तर्कों का आश्रय करते हुए पातंजल, गौतम, काणाद, तांत्रिक, पाशुपत आदिकों ने (उक्तः हेतुः) कहा हुआ केवल निमित्त कारण रूप ( ईश्वरोपि ) ईश्वर भी ( एतादृशे अर्थे ) उक्त सकल कार्य की उत्पत्ति करण रूप अर्थ में ( न प्रभवति ) समर्थ नहीं हैं। वैसे ही (काणाद बौद्ध क्षपणक भणितः अणुः) काणाद ऋषि के शिष्य, बुद्ध के शिष्य, आर्हन्त जैन तथा कापालिक आदि द्वारा प्रतिपादित परमाणु भी जगत् की उत्पत्ति करने में समर्थ नहीं है। इसी प्रकार ( कैश्चिदुक्तम् ) किसी बुद्ध के शिष्य माध्यमिक शून्य वादी नास्तिकों ने कहा जो ( निःसाक्षि शून्यं अपि ) असाक्षिक निष्प्रमाणिक शून्य है वह भी जगत् की उत्पत्ति करने में समर्थ नहीं है। ( तस्मात् ) सर्व वादियों के कल्पित कारणों के अयोग्य होने से (अस्माकम्) हम वेदांताचार्यों के मतानुसार ( श्रुति गदित पर ब्रह्म एव ) श्रुतियों में स्पष्ट रूप से कहा हुआ परब्रह्म ही माया बल से ( सिद्धं निदानम् ) जगत् की उत्पत्ति आदिकों का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है यह सिद्ध हुआ ॥ १६ ॥

आगे दो श्लोकों से सांख्य मत का निरसन करते हैं--

**नाचैतन्यात्प्रधानं प्रभवति चलितुं तन्निसर्गक्रियं चेन्नित्यं सर्ग प्रसंगो नियतिरपि यतः सर्ग पूर्वा न पूर्वम्। बंधो निर्हेतुकः स्यात्कथ**

**मथ न भवेद्बंध मोक्षाव्यवस्था निःसौख्यं नापि मोक्षं स्पृहयति मतिमान् कापिलं तेन दुष्टम् ॥१७**

अचेतन प्रधानसे जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि उसकी प्रवृत्ति स्वभाव से मानी जाय तो नित्य सृष्टि होगी और यदि उसका सहायक अदृष्ट माना जाय तो वह पूर्व है ही नहीं। फिर इसमें बंधन हेतु रहित होगा और बंधमोक्ष की व्यवस्था नहीं होगी। दूसरे, मतिमान पुरुष सुखरहित मोक्ष को भी नहीं चाहता इस कारण से कपिल का मत दूषित है ॥१७॥

(प्रधानम्) सत्व, रज और तम की साम्यावस्था रूप प्रधान (चलितुम्) पुरुष के भोग के लिये सृष्टि करने में प्रवृत्त होने में (न प्रभवति) समर्थ नहीं है। कारण यह कि (अचैतन्यात्) प्रधान जड़ स्वरूप है। (चेत्) यदि (तत्) सो प्रधान (निसर्ग क्रियम्) स्वभाविक ही प्रवृत्ति स्वभाव वाला हो, (नित्यं सर्ग प्रसंगः) तो सर्वदा काल सृष्टि ही होती रहेगी, प्रलय कभी भी नहीं होगा और यदि सांख्यवादी ऐसा कहें कि जैसे जड़ स्वभाव वाले जलादिकों की प्रवृत्ति में निम्न देश आदिक हेतु हैं, तैसे ही जड़ प्रधान की प्रवृत्तिमें भी अदृष्ट ही कारण है तो यह भी उन सांख्यवादियोंका कहना संभव नहीं, (यतः नियतिरपि) क्योंकि वह नियति या अदृष्ट (सर्ग पूर्वा) सर्ग होने के बाद ही हो सकता है। भाव यह है, पहिले सृष्टि सिद्ध होजाय तो पीछे शरीर की शुभाशुभ प्रवृत्ति क्रिया से उत्पन्न हुआ शुभाशुभ अदृष्ट भी प्रधान की प्रवृत्ति में निमित्त कारण हो सकता है परंतु अभी

सृष्टि ही सिद्ध नहीं हुई तो अदृष्ट कहां से आवेगा और उस प्रधान की प्रवृत्ति में कारण हो जावेगा ? इसी तात्पर्य से मूल में नियति को सर्ग पूर्वा कहा है । अर्थात् प्रवृत्ति से सृष्टि के होने पर ही अदृष्ट हो सकता है ( न पूर्वम् ), पूर्व नहीं, क्योंकि अदृष्ट शरीरका कार्य है । प्रवृत्ति से पहिले ही अन्य पूर्व सृष्टि से सिद्ध अदृष्ट को उस प्रवृत्ति के हेतु रूप कल्पना करोगे तो उस सृष्टि का हेतु जो प्रधान की प्रवृत्ति है उस प्रधान की प्रवृत्ति के हेतु रूप अन्य अदृष्ट की कल्पना भी अवश्य करनी पड़ेगी और ऐसी कल्पना करने से अन्योन्याश्रय दोष से लेकर अनवस्थांत दोष प्राप्त होंगे । इतना ही नहीं, सांख्यवादी कापिल के मत में पुरुष सर्वथा असंग है, इसलिये ( बंधो निर्हेतुकः स्यात् ) बंध भी निर्हेतुक ही हो जावेगा और सांख्यवादी पुरुष को कारणों का संबंध मानेगा तो सर्वथा पुरुषासंगत्व सिद्धांत नष्ट हो जावेगा, ( अथ ) बंधके निर्हेतुक होने के अनंतर ( कथं न बंध मोक्षाव्यवस्था ) इस पुरुष को बंध है और इस पुरुषको मोक्ष है, इस व्यवस्था का अभाव किस प्रकार नहीं होगा ? अवश्य होगा । भाव यह है, विना ही संबंध के प्रधान को बंध मोक्ष की संपादकता संभव होने पर मुक्तपुरुष को बंध प्राप्त हो जावेगा और बद्ध पुरुष को मोक्ष प्राप्त हो जावेगा, क्योंकि कारण दोनों में समान है । यही बंध मोक्ष की अव्यवस्था का रूप है । ( मतिमान् ) बुद्धिमान् पुरुष ( निःसौख्यम् ) निरानंद रूप अर्थात् आनंद रहित रूप ( मोक्षमपि ) मोक्ष की भी ( न स्पृहयति ) इच्छा नहीं करता, अन्य पदार्थ की इच्छा नहीं करता यह वार्ता तो कहनी ही क्या है ! कापिलों के मत में निःसौख्य ही मोक्ष है, इसलिये कोई बुद्धिमान् पुरुष कापिलों के मत में मुमुक्षु नहीं होगा । ( तेन ),

इस कारण से ( कापिलं दुष्टम् ) कपिल का मत सदोष है, अतः अग्राह्य है ॥१७॥

**किंचाकर्तैव भोक्ता यदि बत कृतहानाकृताभ्यागमः स्यात् कीदृग्भोगोऽप्यसंगेऽनतिशयिनि भवेत् तेन भोग्यस्य कोऽर्थः । कीदृक् कस्याविवेकः कथमथ स भवेद्भोग हेतुर्विवेकः कस्य स्यात् तेन किंस्यादिति च विमृशतो दुर्वचं ब्रह्मणोपि॥१८**

यदि अकर्ता पुरुष ही भोक्ता है, तो खेद है कि किये हुए का नाश और न किये हुए की प्राप्ति रूप दोष प्राप्त होगा ? असंग में किंचित सम्बंध न होने से भोग किस प्रकार होगा ? पुरुष के भोग में प्रधान का क्या स्वार्थ है ? अविवेक कैसा है ? अविवेक किसका है ? वह भोग का हेतु कैसे बनता है ? विवेक किसको होता है और उसका फल क्या होता है ? इस प्रकार विचार करने से ब्रह्मा को भी कापिल मत का निरूपण करना कठिन है ॥१८॥

( किंच ) और भी कपिल मत में दोष है। कपिल के मत में कर्तापना प्रधान में है और भोक्तापना पुरुष में है। इस पक्ष की अब परीक्षा की जाती है। ( यदि अकर्तैव भोक्ता ) यदि न करता हुआ ही पुरुष भोक्ता है तो ( बत ) खेद है कि इस मत में (कृतहानाकृताभ्यागमः स्यात्) कृत नाश और अकृताभ्यागम दोष प्राप्त होता है ! भाव यह है, पुरुष कर्मों को तो करता नहीं और

कर्मों के फलों को भोक्ता है, इसलिये अकृताभ्यागम दोष अर्थात् बिना किये की प्राप्ति रूप दोष आता है और प्रधान में कर्मों के फलों का भोग नहीं देखा है इसलिये स्वकृत कर्मों का नाश रूप दोष भी प्राप्त होता है। यहां इस दोष से बचने के लिये यदि ऐसा मानलें कि एक का कर्म दूसरा भोगता है तो यज्ञदत्त कृत भोजनक्रिया से अकर्ता देवदत्त में तृप्तिरूप भोग होजाना चाहिये। इसलिये प्रधान करता और पुरुष भोगता हो यह भी असंभव है (असंगे) संबंध मात्र से रहित और (अनतिशयिनि) किंचित् संबंध कृत अतिशयता से रहित पुरुष में (भोगोपि कीदृक् स्यात्) भोग भी किस प्रकार होगा यह भी तुमको विचार कर कहना चाहिये। भाव यह है कि जब भोग से पहले वा भोग भोग से पीछे किंचित् संबंध वा संबंध कृत अतिशयता ही पुरुष में नहीं है तो पुरुष में भोग ही किस प्रकार संभवित है अर्थात् ऐसे होने पर पुरुष में किसी प्रकार का भोग संवभ नहीं। फिर (तेन) उस पुरुषकृत भोग से (भोग्यस्य) प्रधानको (कोऽर्थः) क्या स्वार्थ है? जड़ में स्वार्थ का अनुसंधान ही असंभव होने से कोई भी स्वार्थ नहीं है और स्वार्थ से विना प्रवृत्ति असंभव होती है क्योंकि अति दयालु पुरुष की परदुःख की निवृत्ति अर्थ प्रवृत्ति भी विचार कर देखा जावे तो स्वदुःख की निवृत्ति रूप स्वार्थानुसंधान से ही है और वैरी पुरुष की परपुरुष के दुःख देने में प्रवृत्ति भी अपना पूर्व बदला लेने से स्वप्रसन्नतारूप स्वार्थानुसंधान से ही है। परंतु प्रधान को तो जड़ होने से पुरुष के सुख का दुःख भोग देने की प्रवृत्ति में कोई स्वार्थानुसंधान ही संभव नहीं है। पुरुष और प्रधान का जो परस्पर का अविवेक है वही पुरुष को भोग देने के लिये प्रधान की प्रवृत्ति में कारण है ऐसा मानो तो हम पूछते हैं (अविवेकः कीदृक्) वह अविवेक किस प्रकार का है? वह अविवेक यदि

अभाव रूप है तो तुम वादियों के मत में अपसिद्धांत प्राप्त होगा अर्थात् उनके सिद्धांत का ही बाध होगा, और यदि पुरुष प्रधान के ऐक्य ज्ञान का नाम ही अविवेक है तो वह भी संभव नहीं, क्योंकि वास्तव में भिन्न भिन्न पदार्थों की एकता भी वास्तव नहीं होती। यदि वह एकता मिथ्या है ऐसा मानोगे तो तुम वादिओं के मत में फिर अपसिद्धांत प्राप्त होगा, क्योंकि मिथ्यात्व का तुम्हारे मत में अंगीकार ही नहीं है और विचार भी यहां कर्तव्य है कि ( अविवेकःकस्य ) वह अविवेक प्रकृति को है वा पुरुष को है ? वह अविवेक दोनों में से किसी को भी नहीं बन सकता, क्योंकि प्रधान जड़ होने से अविवेक का आश्रय नहीं हो सकता और पुरुष असंग होने से अविवेक का आश्रय नहीं हो सकता। ( अथ ) उक्त विचार के अनन्तर और विचार किया जाता है कि ( सः ) सो अविवेक ( भोग हेतु कथं भवेत् ) पुरुष असंग होने से उसके भोग का कारण किस प्रकार हो सकता है ? नहीं हो सकता। अन्यथा सर्वथा असंगत्व सिद्धांत नाश को प्राप्त होगा। अब मोक्ष के कारणरूप से तुम लोगों ने जो विवेक माना है ( विवेकः कस्य स्यात् ) वह विवेक किसको होता है ? प्रधान को होता है वा पुरुष को ? दोनों में से किसी को भी नहीं हो सकता, क्योंकि प्रधान जड़ है और पुरुष सर्वथा असंग है। ( तेन ) फिर उनके विवेक से ( किं स्यात् ) क्या फल होगा ? भाव यह है कि पुरुष असंग होने से उससे बंध का संबंध ही नहीं है जिसकी निवृत्ति विवेक का फल होगा। इसलिये सांख्यवादी के मत में विवेक भी निष्फल है। ( इति ) इस प्रकार ( विमृशतः ) विचार करने से ( ब्रह्मणोपि दुर्वचम् ) ब्रह्मा को भी यह कपिल का मत निरूपण करना कठिन है ॥१८॥

जड़ होने से प्रधान और परमाणुओं की प्रवर्तकता अर्थात् प्रेरकता रूप जगत् का केवल निमित्त कारण ईश्वर है यह योगियों, काणादों, गौतमों और माहेश्वरों का मत है। इसका आगे के दो श्लोकों से खंडन करते हैं—

**नेशोऽधिष्ठातुमीशो तनुकरणगुणस्तार्किकाणां प्रधानं स्याच्चेत् तन्वत्त्वत्त्वं सुचरित दुरितोद्भूत भोग प्रसंगः। दुःखाढ्यं कुर्वतोऽस्य प्रसरति विषमाचार नैघृण्यदोषः कर्मेप्सोश्चक्रकाव-स्थिति हति विफलत्वान्यथा सिद्धयःस्युः ॥१६॥**

तार्किकों का ईश्वर शरीर इन्द्रिय प्रयत्न इच्छादि गुणों से रहित है। इसलिये वह परमाणुओं को प्रवृत्त करने में समर्थ नहीं होगा। यदि उसे शरीर, इन्द्रिय वाला माना जाय, तो उसे पाप पुण्य का भोग होगा। दुःखागार जगत् को रचते हुए वह विषमता और निर्दयता के दोष को प्राप्त होगा। जीवों के कर्मों की अपेक्षा रखने से चक्रिका, अनवस्था आदि दोष और ईश्वर के स्वीकार की निष्फलता होगी और ऐसे ईश्वर विना ही जगत् की सिद्धि होगी ॥१६॥

(तार्किकाणाम्) केवल तर्क ही से कारण का निरूपण करने वाले तार्किकों के मत में (अतनुकरणगुणः ईशः) शरीर

इन्द्रिय, इच्छा, प्रयत्नादिक गुणों से रहित ईश्वर है। ऐसा ईश्वर निरवयव तथा नीरूप होने से ही अप्रत्यक्ष (प्रधानम्) प्रधान और परमाणुओं को (अधिष्ठातुं) प्रवृत्त करने में (न ईशः) समर्थ नहीं है और (चेत्) यदि (तनु अक्षवत्त्वम्) ईश्वर को शरीर इन्द्रियादि (स्यात्) हैं तो (सुचरित दुरितोद्भूतभोग प्रसंगः) ईश्वर में भी जीव की तरह पुण्य पाप की उत्पत्ति से सुख दुःख का भोग प्राप्त होगा; क्योंकि शरीर आदिकों को भोग की ही सामग्री नियम से माना है। (दुःखाढ्यम्) दुःख प्रधान जगत् को (कुर्वतः) करते हुए (अस्य) अनवस्था के भय से अन्य किसी नियंता से रहित ऐसे स्वतंत्र इस ईश्वर को (विषमाचार नैर्घृण्य दोषः प्रसरति) विषम सृष्टि करना और निर्दयता यह दोनों दोष प्राप्त होंगे। भाव यह है कि सृष्टि में कोई प्राणी सुखी प्रकट करके तथा कोई दुःखी प्रकट करके, कोई देवता बना दिया तथा कोई असुर बना दिया, कोई मनुष्य बना दिया कोई गौ बना दिया, कोई घोड़ा बना दिया तथा कोई राजा और कोई प्रजा बना दिया। इस प्रकार नाना प्रकार विना ही कारणों से भेदयुक्त सृष्टी रचने से ईश्वर में विषमता का दोष प्राप्त होगा और अतिदुःखी प्राणियों की रचना करने से निर्दयता का दोष प्राप्त होगा। इन उक्त दोनों दोषों के निवृत्त करने के लिये (कर्मेप्सोः) इस ईश्वर को प्राणिओं को सुख दुःख भोग प्राप्त करने में प्राणिओं के कर्मों की अपेक्षा अंगीकार करने पर (चक्रकाऽनवस्थिति हति विफलत्वान्यथा सिद्धयः स्युः) चक्रक, अनवस्था, ईश्वर स्वीकार की निष्फलता तथा प्रथक् निमित्तकारण मात्र ईश्वर के विना ही जगत् की सिद्धि, ये सर्व दोष प्राप्त होंगे। जहां प्राणियों के कर्मों से ईश्वर की विविध जगत् रचना में प्रवृत्ति होगी वहां ईश्वर की प्रवृत्ति से फिर उस प्रधान और परमाणुओं की प्रवृत्ति द्वारा जगत् की सृष्टी होगी और उस

जगत् की सृष्टी से फिर शरीर आदिकों की सिद्धि होगी, शरीर आदिकों की सिद्धि से फिर कर्म होंगे और कर्मों से फिर ईश्वर की प्रवृत्ति होगी। इस प्रकार चक्रवत् आवृत्ति होती रहेगी। यह चक्रक दोष ईश्वर में आवेगा। इस दोष के दूर करने के लिये यदि पूर्व २ सृष्टि में किये हुए कर्मों को मानोगे तो अनवस्था दोष प्राप्त होगा। वहां प्रत्यक्ष सिद्ध बीज अंकुर की तरह यह अनवस्था प्रमाण की नहीं है क्योंकि वहां कर्मों को ईश्वर की प्रवृत्ति में हेतु मानकर फिर प्रधान की प्रवृत्ति में ईश्वर को हेतु मानने से गौरव दोष प्राप्त होता है। इसलिये प्रधान और परमाणुओं की प्रवृत्ति कर्मों से ही है, ऐसा माने तो ईश्वर का अंगीकार करना निष्फल है, इतनाही नहीं, ईश्वरको कर्मों की अपेक्षा स्वीकार करने पर माया शबलता भी तिन उक्तवादिओं के गले में बलात्कार से आ गिरती है। क्योंकि अन्यथा अर्थात् पृथक् निमित्त रूप ईश्वरकी कल्पना से विना ही, उपादान भूत माया शबल ब्रह्म से ही जगत् की सिद्धि हो सकेगी, यह इसका भाव है ॥१९॥

**सर्वज्ञः सर्वलिप्सुः सकलकृतियुतो नित्य मीशो यदि स्यात् सर्वं कार्यं सदा स्यादुदय भृतिलया यौगपद्येन च स्युः। बाह्योपादान वत्स्यात्तनुकरणधियां विश्व सर्गे व्यपेक्षा निस्तर्कं चानुमानं कृति रपि हि यतश्चेष्टयार्थं विधत्ते ॥२०॥**

ईश्वर यदि नित्य, सर्वज्ञ, सृष्टि रचना करने की इच्छा वाला तथा सब प्रयत्न सहित होगा तो सब कार्य सर्वदा होते

**रहेंगे और उत्पत्ति, स्थिति नाश एक ही काल में होंगे। बाहर के उपादान के समान अपेक्षा से जगत् की रचना करेगा तो उसके लिये शरीर इन्द्रिय बुद्धि की भी अपेक्षा होगी, क्योंकि प्रयत्न शरीर की क्रिया से होता है, इससे ईश्वर सिद्ध करनेवाला अनुमान भी व्यर्थ होगा॥२०॥**

( यदि नित्यम् ) यदि नित्य ही ( ईशः ) ईश्वर ( सर्वज्ञः ) सर्वज्ञ और ( सर्व लिप्सुः ) सर्व की रचना आदि की इच्छा वाला और ( सकल कृतियुतः ) सकल यत्न सहित ( स्यात् ) होगा तो ( सर्वं कार्यं सदा स्यात् ) सर्व कार्य सर्वदा काल ही होता रहेगा और ( उदय भृति लयाश्च ) उत्पत्ति, पालन और नाश ( यौग पद्येन ) एक ही काल में ( स्युः ) होवेंगे। भाव यह है कि यदि सर्व विषयक ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न ये ईश्वर में नित्य हैं तो सर्व फल पुष्पादिक कार्य सर्वदा ही काल होते रहेंगे, इनका प्रलय कभी भी नहीं होगा और उत्पत्ति पालन तथा नाश भी एक काल में ही होंगे और सांकेतिक नित्यता माननेपर वेदांत सिद्धांत की प्राप्ति होगी। यदि ईश्वर को अपने से भिन्न परमाणु आदिक उपादान की अपेक्षा होती है तो (बाह्योपादानवत्) उन बाह्य परमाणु आदि उपादान की अपेक्षा की तरह (जगदुत्पत्तौ) जगत् रचना करने में कुलाल आदिक दृष्टांतों से ही (तनुकरणधियाम्) शरीर, इन्द्रय, बुद्धि की भी ( विश्व सर्गे ) जगत् की उत्पत्ति में विशेषकर अपेक्षा होगी, और शरीर इन्द्रिय आदि वाले ईश्वर को बुरे भले जगत् की रचना क्रिया जन्य पाप पुण्य से सुख दुःख फल भी कुलालादिकों की तरह अवश्य ही होगा। ईश्वर की सिद्धि करने वाला (अनु-

मानम् ) अनुमान भी ( निस्तर्कम् ) व्यभिचार शंका निवर्तक तर्क से शून्य ही हो जावेगा।

शंका—प्रयत्न वाले कुलाल आदिकों को कार्य की जनकता देखी है, इसलिये कुलाल के दृष्टान्त से पृथ्वी आदिकों के अनुकूल प्रयत्न की आश्रयता ईश्वर को सिद्ध हो सकती है।

समाधान—यह नहीं बन सकता, ( यतः ) क्योंकि ( कृतिरपिहि ) प्रयत्न भी निश्चय से ( चेष्टया ) शरीर की क्रिया द्वारा ही (अर्थम्) कार्य को ( विधत्ते ) करता है। ऐसा होने पर अर्थात् यत्न का शरीर-क्रिया कारण होने पर पृथिवी आदि सर्व कार्य के प्रति वह कारण नहीं बन सकेगा और इस प्रकार से भी ईश्वर की सिद्ध नहीं होगी ॥२०॥

अब परमाणु कारणवाद का खंडन करते हैं—

**कस्मादण्वोः क्रियास्यात्कथ मथ मिलितौ निष्प्रतीकौ कथं वा कार्यं ताभ्यां तृतीयं किमिति च न महत्पारिमाण्डल्यतः स्यात् । तेभ्यः कस्मान्महान् स्यात्किमिति पुनरसावेव-नित्यो न ते स्यान्नित्यश्चाणुः कथं वा निरवयव इति ब्रूह्यसत्कार्यं वादिन् ॥२१॥**

हे सत्कार्य वादी, किस कारण से दो परमाणुओं में क्रिया होती है और निरवयव दोनों अणु किस प्रकार मिलते हैं ? द्वयणुक से सर्वथा भिन्न त्र्यणुक का कार्य

किस प्रकार होता है? परिणाम से द्वयणुक त्र्यणुक के समान महान् परिणाम वाला क्यों नहीं होता? द्वयणुक से उत्पन्न हुआ त्र्यणुक पदार्थ ही नित्य क्यों न होगा? इस लिये परमाणु भी नित्य और निरवयव कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता ॥२१॥

( असत्कार्य वादिन् ) अर्थात् मृदादि कारण में सर्वथा असत् अविद्यमान ही घटादिक कार्य पश्चात् उत्पन्न होता है इस प्रकार कहने वाले, हे असत्कार्यवादी, हम पूछते हैं कि द्वयणुक की उत्पत्ति में अणुओं के संयोग के लिये सृष्टि के आदि में ( अण्वोः ) दो परमाणुओं में क्रिया ( कस्मात् ) किस कारण से ( स्यात् ) होती है। ईश्वर की इच्छा से उन दो परमाणुओं में क्रिया होती है इस पक्ष का पूर्व पद्य में खंडन कर आये हैं। ( अथ ) प्रकारांतर से भी परमाणुओं के सृष्टी आदि काल में संयोग का खंडन किया जाता है। ( निष्प्रतीकौ ) ये दोनों निरवयव परमाणु ( कथं मिलितौ ) किस प्रकार संयोग वाले हो सकते हैं? अर्थात् निरवयव होने से तथा जड़ होने से किसी प्रकार भी परमाणुओं का संयोग नहीं होगा, क्योंकि संयोग एक देश वृत्ति होता है यह नियम देखा जाता है। जो निरवयव पदार्थों का संयोग मानने में बाधित होता है (कार्यम्) वह द्वयणुकरूप कार्य ( ताभ्याम् ) उन दो परमाणुओं से ( तृतीयम् ) सर्वथा भिन्न ( कथम् ) किस प्रकार ( स्यात् ) हो सकता है? नहीं हो सकता, क्योंकि कारण के अवयवों से भिन्न अवयव कार्य में उपलब्ध नहीं होते, और कारण के गुण ही सजातीय अन्य गुणों की उत्पत्ति में कारण होते हैं। ऐसा द्वयणुक आदि कार्य में देखने से, ( पारिमांडल्यतः ) परिमंडल का अर्थ है

परमाणु, इसलिये पारिमांडल्यतः का अर्थ है, परमाणु के परिमाण से ( महत्किमिति न स्यात् ) द्व्यणुक त्र्यणुक की तरह महान् परिमाण वाला क्यों नहीं होता ? भाव यह है इस परमाणु कारण वादियों के मत में कार्य कारण का भेद माना है और कारण के गुण कार्य के गुणों को आरंभ करते हैं इसलिये कार्य में द्विगुणता परिमाण की प्राप्ति होनी चाहिये अन्यथा ( तेभ्यः ) उन द्व्यणुकों से उत्पन्न हुआ त्र्यणुक पदार्थ ( महान् ) महत्त्व परिमाण वाला ( कथं स्यात् ) किस प्रकार होवेगा ? और तुम्हारे मत में त्र्यणुक में महत्त्व परिमाण माना है, इसलिये द्व्यणुक में भी उक्त न्याय से महत्त्व परिमाण होना चाहिये और ( असौ एव ) यह त्र्यणुक पदार्थ भी ( ते नित्यः किं इति न स्यात् ) तेरे मत में नित्य क्यों न होजावे ? भाव यह है कि परमाणु की कल्पना तुम ही किस लिये करते हो ? यदि ऐसे कहो कि दृश्य पदार्थ सावयव और अनित्य होता है यह नियम है तो मूर्त द्रव्य की भी सावयवता और अनित्यता का भी नियम है। ( इति ) इसलिये ( ब्रूहि ) हे वादिन् कहो कि ( अणुर्वा ) परमाणु भी ( नित्योनिरवयवश्च कथं स्यात् ) नित्य और निरवयव कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता ॥२१॥

अब आगे तीन श्लोकों से क्षणिक बाह्यार्थवादी बौद्धमत का निरसन करते हैं—

**बाह्यं भोग्यं प्रजल्पन् क्षणिक मणु चयं भोक्तृ संघात मंतः स्कंधानां पंचकं चेद्दृशमिति सुगतः पृच्छ्यतां वेद बाह्यः। किं ते मानांतरेण प्रमित**

**मिदमुत प्रौढिरेषा त्वदीया किंवा मोहात्प्रलापः किमथ जड जगद्विप्रलिप्सा कुबुद्धे ॥२२॥**

हे वेदबाह्य सुगत, तुझे पूछते हैं कि शरीर के बाहर पदार्थ क्षणिक हैं, पृथ्वी आदि चारों भूतों के समुदाय भोग्य है और शरीर के भीतर बाहर के पदार्थों के समान क्षणिक रूप स्कंधों के पंचक को तू भोक्ता समुदाय कहता है, हे कुबुद्धि, तुझे क्या इस क्षणिकता का प्रमाण से निश्चय हुआ है, अथवा क्षणिकत्व तेरी बुद्धि का वैभव है अथवा भ्रांति से ही तू यह बकता है अथवा जगत् को ठगने के लिये ऐसा कहता है ॥२२॥

प्रथम यह बात जानना आवश्यक है कि सर्व वैनाशिक के मंद, मध्यम और उत्तम शिष्यों के भेद से यह मत तीन प्रकार का है। यह वार्ता बोध चित्त बिवरण नामक ग्रंथ में कही है।

> देशना लोक नाथानां सत्त्वाशय वशानुगाः।
> भिद्यन्ते बहुधा लोक उपायैर्बहुभिः पुनः ॥१॥
> गंभीरोत्तान भेदेन क्वचिच्चोभय लक्षणा।
> अभिन्ना देशना भिन्ना शून्यताऽद्वयलक्षणा ॥२॥

( देशनाः ) आगम ( गंभीरः ) अगाध ( उत्तानः ) स्थूल दृष्टि योग्य ( उभय लक्षणा ) ज्ञान मात्र अस्तित्व और बाह्य अर्थ अस्तित्व लक्षण।

यहां वैभाषिक और सौत्रान्तिक अवांतर भेदवादी हुए भी सर्वास्तित्व वादी हैं, योगाचार विज्ञान मात्र अस्तित्वादी हैं और

माध्यमिक सर्वशून्य वादी हैं। तीनों में से पहले सर्वास्तित्वादिओं का मत खंडन करना है इसलिये उनके मत की संकेत प्रक्रिया बतलाई जाती है। सर्वास्तित्ववादियों के मत में पृथिवी आदि, रूप आदि तथा चक्षु आदि बाह्यपदार्थों का अंगीकार है और चित्त तथा काम आदिक चैत्तरूप आंतर पदार्थों का अंगीकार है। पृथिवी आदि चारों भूतोंके परमाणु क्रम से कठिन, स्निग्ध, उष्ण तथा चलन स्वभाववाले पृथिवी आदि भाव से एकत्रित होते हैं अर्थात् पृथिवी आदि चारों भूतों के परमाणु मिलकर पृथिवी आदि स्थूल भाव को प्राप्त होते हैं, और रूपस्कंध, विज्ञानस्कंध, वेदनास्कंध, संज्ञास्कंध तथा संस्कारस्कंध ये पांचोंस्कंध उक्त भूत भौतिकों से भिन्न आंतर चित्त, चैत्त या आध्यात्मिक कहे जाते हैं। सविषय इन्द्रियों का नाम रूप स्कंध है। रूप्यमान पृथ्वी आदिक यद्यपि बाह्य हैं तथापि कार्य में अर्थात् शरीर में स्थिति होने से अथवा इंद्रियों के संबंध से ये आध्यात्मिक हैं। (अहं) अहं इस आकार वाला आलय विज्ञान और रूप आदिकों को विषय करने वाला इंद्रिय जन्य ज्ञान यह दोनों ज्ञान विज्ञान स्कंध कहा जाता है। सुख आदिकों का अनुभव वेदना स्कंध कहा जाता है। यह डित्थ है, गौर है ब्राह्मण है, जाता है, इस प्रकार नाम विशिष्ट सविकल्पक प्रत्यय संज्ञा स्कंध कहा जाता है। तथा राग, द्वेष, मद, मोह, धर्म और अधर्म संस्कार स्कंध कहा जाता है। इन सबका संघात ही आत्मा है जो सकल लोक यात्रा का निर्वाहक है। यह सर्वास्तित्ववादिओं के मत का संक्षेप है।

(वेदबाह्यः सुगतः) वेद विरोधी नास्तिक बुद्ध को (पृच्छ्यताम्) पूछना चाहिये कि (जड़ कुबुद्धे) हे जड़ कुबुद्धे (बाह्यं क्षणिकम्) शरीर से बहिर स्थित

सर्व भूत भौतिक अर्थात् पृथिवी आदिक भूत तथा रूपादिक और नेत्रादिक भौतिक उत्पत्ति क्षणमात्र स्थिति वाले पदार्थों को और ( अणु चयम् ) पृथिवी आदिक चारों भूतों के परमाणु समुदाय को ( भोग्यम् ) भोग के योग्य है ऐसा ( प्रजल्पन् ) तू तो कहता है ( अन्तः ) और शरीर के अंतर ( ईदृशम् ) बाह्य पदार्थों की तरह क्षणिक ( स्कंधानाम् ) उक्त रूप विज्ञान आदि स्कंधों के ( पंचकम् ) पंचक को ( भोक्तृ संघातम् ) भोक्ता समुदाय रूप कहता है सो ( ते ) तेरे को ( इदम् ) यह क्षणिकत्वादिका ( मानान्तरेण ) प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणसे अथवा किसी अन्य प्रमाण से ( प्रमितम् ) तेरा निश्चय हुआ है ( किमुत ) अथवा ( एषा ) यह क्षणिकत्व आदि कल्पना ( त्वदीया प्रौढिः ) तेरी बुद्धि का विशुद्ध वैभव है ? ( किंवा ) अथवा तेरा यह ( मोहात् ) भ्रांति से ( प्रलापः ) व्यर्थ ही प्रलाप है ? ( किमथ ) अथवा, ( जगत् विप्रलिप्सा ) अधिकारी जनों के ठगने की इच्छा से है ? भाव यह है कि, हे कुबुद्धे, जड़, वैनाशिक, यह तेरी अप्रमाणिक कल्पना सरल हृदय अधिकारी जनोंको अकारणिक द्वेष कर वेद मार्ग से भ्रष्ट करने के लिये है अथवा मूर्ख लोगों के मन के रंजन करने के लिये है ? कहदे ॥२२॥

**संघीभावः कथं वा चलन विरहिणां भंगुराणा**
**मणूनां संघो नान्यः कथं वा विषय पदमियात्**
**कश्चसंघं विधत्ते । स्कंधानां सन्निपातः कथ मित्र**
**कियतां भोक्तृता का च धारा कस्य स्तां भोग**
**मोक्षौ वद जड सफलं केन वा दर्शनं ते ॥२३॥**

क्रिया रहित अणुओं से किस प्रकार देह संगठित होता है? देहादि से अभिन्न देह रूप परमाणु राशी इंद्रियों को अविषय होने से कैसे प्राप्त होगी? भूतभौतिक संघ को कौन रचेगा? स्कंधों का संघ कैसे होगा? किन स्कंधों में भोक्तृता है? धारा भी क्या है? भोग मोक्ष किसका होगा? हे जड़ तू कह, तेरे शास्त्र में किस फल से किस प्रकार की सफलता है? अर्थात् तेरा शास्त्र निष्फल है ॥२३॥

( चलनविरहिणाम् ) कारण के असंभव से क्रिया से रहित ( भंगुराणाम् ) और क्षणिक भाव होने से क्रियोत्पत्ति क्षण में अस्थायि ( अणूनां कथं वा ) परमाणुओं का किस प्रकार से देह आदिक रूपतया ( संघीभावः ) संघीभाव है अर्थात् समुदाय रूप होकर घनीभाव है और तेरे मत में ( अनन्यः ) परमाणुओं से अभिन्न ( संघः ) देह आदि रूप परमाणु राशि ( विषयपदम् ) परमाणुओं को इन्द्रियों की विषयत्वता के अयोग्य होने पर इन्द्रियों की विषयता को ( कथं इयात् ) कैसे प्राप्त होवेगी? फिर तेरे मत में देहादिक संघात से भिन्न किसी चेतन का स्वीकार न होने से ( संघम् ) भूत भौतिकों के संघ को ( कः विधत्ते ) कौन रचेगा? स्कंधों का संघ भूत भौतिकों के संघ को रचेगा यह भी तू कहने को समर्थ नहीं, क्योंकि स्कंधों के संघ को भी अन्य कर्ताकी अपेक्षा समान ही है, इस तात्पर्यसे कहता है कि ( स्कंधानां सन्निपातः कथमिव ) स्कंधों का संघ भी किस प्रकार से होगा? क्योंकि स्कंधों के संघ को भी अन्य कर्ता चाहिये। तेरे मत में समुदायरूप संघ अवयवों से अभिन्न होने से पांचों स्कंधों में से

( क्रियताम् ) किन स्कंधों को भोग की ( भोक्तृता ) कर्तृता है ? अहंकार विज्ञान धारास्कंध को कर्तृता है यह भी संभव नहीं है, क्योंकि ( धारापि का ) धारा भी क्या है इस तरह पूछने पर क्षणिक विज्ञान का नाम ही धारा है यही कहना होगा, तब क्षणिक अर्थात् अन्य क्षण में न रहने वाला होने से सो विज्ञान धारा स्कंधकर्ता भोक्ता नहीं हो सकता । इस प्रकार कर्ता भोक्ता असिद्धि होने पर ( भोगमोक्षौ कस्य स्ताम् ) भोग और मोक्ष किसको होंगे ? अर्थात् किसी भोग मोक्ष की इच्छा कर्ता के स्थायीभाव के अभाव से किसी को भी नहीं होंगी । तब ऐसे होने पर हे जड़ तू ( वद ) कह ( ते ) तेरे ( दर्शनम् ) शास्त्र को ( केन वा ) किस फल के लिये वा किस प्रकार से ( सफलम् ) सफलता है अर्थात् तेरा शास्त्र ही निष्फल है ॥२३॥

**नाविद्यादि प्रवृत्तेर्द्विविध समुदयस्ते यदेकैक सन्नानश्यन्नुत्वादनेन प्रभवति किमरे हेत्वसंबंधि कार्यम्। तच्चेन्निर्हेतुकं स्यात् करण विफलता स्व प्रतिज्ञाविरोधौ त्रैविध्यं चाप्यभावे कथमिति वितथो बुद्धबंधोः प्रलापः ॥२४॥**

भोक्ता भोग्य समुदाय अविद्या की प्रवृत्ति से नहीं है, क्योंकि यह प्रतिक्षण में नष्ट होता है, प्रतिक्षण में नष्ट होनेसे अन्यक्षण की उत्पत्ति के हेतु कैसे हो सकते हैं ? नाश होता हुआ उत्पत्ति करने में समर्थ नहीं होता । हे वादी, क्या कार्य हेतु के विना ही होता है ? और निर्हेतुक होता हो

तो कारण की विफलता में स्वप्रतिज्ञा का विरोध और अभाव में तीन प्रकार भी कैसे हो सकते हैं ? इससे कुबुद्धि बौद्ध का कथन ठीक नहीं है ॥२४॥

( द्विविध समुदयः ) उक्त भोक्ता भोग्य समुदाय ( अविद्यादि प्रवृत्तेः ) कार्य कारण भाव से अविद्या आदिकों की निरंतर प्रवृत्ति रूप हेतु से ( न ) नहीं है, ( यतः ) क्योंकि ( ते ) सो अविद्यादिक ( एकैक सन्नाः ) एक एक में नष्ट हुए एक एक की उत्पत्ति के हेतु हुए भी कथंचित् अर्थात् किसी प्रकार से क्षणिक पदार्थोंसे उत्पन्न हुए अनेक संघी भाव द्वारा हेतुता होगी, क्योंकि एक एक कार्य की उत्पत्ति क्षण में ही ( नुत्त्वात् ) नष्ट होजाने से वास्तव में तो उत्पति में भी कारणता नहीं है क्योंकि ( नश्यन् ) स्वयं ही नाश होता हुआ पदार्थ ( उत्पादने ) कार्य उत्पन्न करने में ( न प्रभवति ) स्वविनाश क्षण में ही उत्पन्न कार्य की उत्पत्ति करने को समर्थ नहीं होता, क्योंकि कार्य के साथ उसके संबंध का अभाव है। यदि विना ही स्व संबंध के कार्य की उत्पत्ति इष्ट होगी तो ( अरे किं कार्यं हेत्वसंबंधि ) अरे वादिन्, क्या कार्य हेतु के संबंध से बिना होता है ? अर्थात् कारण के संबंध से विना तो किंचित् भी कार्य नहीं होता। ( चेत् ) यदि ( तत् ) वह कार्य ( निर्हेतुकम् ) कारण के संबंध के विना ही ( स्यात् ) उत्पन्न होता है तो ( करण विफलता स्व प्रतिज्ञा विरोधौ ) विना ही कारण के कार्य की उत्पत्ति होजाने पर उस उस कार्य के प्रति उस उस कारण का स्वीकार करना लोक में निष्फल हो जायगा और (चतुर्विधान हेतून् प्रतीत्य चित्त चैत्ता उत्पद्यन्तेः') इस सूत्रस्थ स्व प्रतिज्ञा का विरोध भी प्राप्त होगा। ( च ) और पुनः तेरे मत में ( अभावे त्रैविध्यं अपिकथम् ) अभाव में तीन

प्रकारता भी कैसे हो सकती है ? भाव यह है कार्य के अभाव को अवस्तु रूप से स्वीकार करने से उनसे कारणादिकों के किंचित् भी संबंध का असत्त्व होने से विशेष का निरूपण करना ही कठिन है। ( इति ) इस उक्त प्रकार से ( बुद्ध बंधोः ) कुत्सित बुद्ध का ( प्रलापः ) विरुद्ध अनेक वाद ( वितथः ) यथार्थ नहीं है ॥ २४ ॥

स्वप्न की तरह बाह्य अर्थ के विना भी प्रमाता प्रमाण प्रमेय प्रमिति रूप सर्व व्यवहार सर्वाकार विज्ञान से ही सिद्ध होजाता है, इसलिये बाह्य अर्थ की उत्पत्ति अनुपपन्न है इस विज्ञानैक वादी बुद्ध के मत का खंडन अब किया जाता है—

**नापोद्यं मानसिद्धं कथमिव विविधं ज्ञानमर्थापलापे बाधोऽर्थानां न दृष्टो बहिरिति च पदं न प्रसिद्धार्थमृच्छेत्। वेद्या विज्ञान भेदाः कथ मथ विविधावासना वा कुतः स्युः किंच प्रागुक्त दोषाः क्षणिक त्रितिहतस्तेन विज्ञान वादः॥२५**

बाह्यपदार्थ प्रमाण से सिद्ध नहीं है ऐसा नहीं कहना चाहिये और बाहर के पदार्थ का अंगीकार न करने से भिन्न २ ज्ञान कैसे होगा ? जाग्रत पदार्थ का बाध देखा नहीं है ? बाहर यह किसी अर्थ की प्राप्ति न करेगा, फिर विज्ञान का भेद कैसे जाना जा सकता है ? अनेक प्रकार की वासना भी कैसे होगी ? तथा क्षणिक विज्ञान

कारणत्व आदि नहीं बन सकता, इन दोषों से विज्ञान वाद नष्ट हुआ ॥२५॥

(मानसिद्धम्) प्रत्यक्षादिक प्रमाण सिद्ध बाह्य घट पट आदिक वस्तु (नापोह्यम्) नहीं है इस प्रकार नहीं कहना, परंतु (अर्थावलापे) बाह्यअर्थ के न अंगीकार करने पर (ज्ञानं विविधं कथमिव) नाना आकार वाला ज्ञान कैसे हो सकेगा? भाव यह है कि विषय की विचित्रता से ही ज्ञानमें विचित्रता होती है सो भी बाह्य विचित्र विषय के अंगीकार न करने से असंभव हो जावेगो।

शंका—स्वप्न की तरह वासनाओं की विचित्रता से ज्ञान में विचित्रता भी हो सकती है।

समाधान—(अर्थानां बाधो न दृष्टः) जाग्रत् पदार्थोंका बाध नहीं देखा है। भाव यह है जाग्रत् में भी ज्ञान की विचित्रता स्वप्न की तरह वासनाओं से ही है, तो स्वप्न भावों की तरह जाग्रत भावों का भी बाध होगा। और स्वप्न ज्ञान की विचित्रता तो जाग्रत पदार्थों की वासना की विचित्रता से है, न कि स्वप्न पदार्थों की वासना से। वैसे ही जाग्रत ज्ञान की विचित्रता किन यथार्थ पदार्थों की वासना से है, सो भी तुमको कहना चाहिये। ऐसे कहने पर बाह्य पदार्थों का अंगीकार विना ही इच्छा से प्राप्त होगा और प्रत्यभिज्ञा ज्ञान आदिकों का अभाव भी प्राप्त होगा। क्योंकि स्थायि ज्ञान नहीं है अर्थात् संस्कारों का आश्रय रूप विज्ञानात्मा तुम्हारे मत में स्थायि नहीं है। स्वप्न पदार्थों की प्रतिभिज्ञा जाग्रत में नहीं है, क्योंकि वहां बाह्य पदार्थों का अभाव संमत है। परंतु यदि बाह्य कोई पदार्थ ही नहीं है तो (बहिरिति पदं प्रसिद्धार्थं न ऋच्छेत्) 'बहिर' यह पद किसी

प्रसिद्ध अर्थ को नहीं प्राप्त होगा अर्थात् तुम्हारे मत में 'बहिर' इस पद को निरालम्बता ही प्राप्त होगी। दूसरे तुम्हारे मत में (विज्ञान भेदाः) ज्ञानों के भेद और ज्ञानों की विलक्षणता आदिक (कथं वेद्याः) कैसे जाने जायेंगे? क्योंकि ज्ञान तुम्हारे मत में क्षणिक है और स्थायि ज्ञानान्तर का तुम्हारे मत में अभाव है। (अथ) ज्ञान रूप ही अखिल पदार्थ हैं इसके अंगीकार के अनन्तर भी (विविधा वासना वा कुतः) नाना प्रकार की वासनायें भी किस कारण से (स्युः) होंगी? यहां ज्ञानों को हेतु मानोगे तो अन्योऽन्याश्रय आदि दोष प्राप्त होंगे और बाह्य पदार्थ कोई तुम्हारे मत में हैं ही नहीं, जिसको तुम उक्त दोष की निवृत्ति के अर्थ वहां कारण रूप मान लोगे। (क्षणिक चिति) क्षणिक विज्ञान में (प्रागुक्त दोषाः) पूर्व श्लोक में कहे हुए दोष अर्थात् क्षणिक पदार्थों को कारणत्व आदि नहीं बन सकता इत्यादिक दोष (स्युः) होंगे। (तेन) इसलिये क्षणिक विज्ञान वाद (हतः) विनष्ट हुआ ॥२५॥

अब अभाव से वा शून्य से ही जगत उत्पन्न होता है, इस मत का खंडन करते हैं—

**नाभावाद्भाव जन्म क्वचिदपि कलितं निर्विशेषाद्विचित्रं न स्यात् तेनानुविद्धे ह्यसदसदिति च प्रत्ययः स्यादशेषे। केनाभाव प्रथा ते किमिति न सकलं सर्वतः स्यादभीष्टं सर्वेषां स्यादयत्नं किमिति जड भवानात्मघाते प्रवृत्तः २६**

अभाव से भाव की उत्पत्ति जानने में नहीं आई, एक ही प्रकार के शून्य स्वरूप अभाव से विचित्र जगत् नहीं होगा, और इस अभाव से सब जगत् में असत् असत् ही होगा। तू अभाव को किस प्रमाण से कहता है, अभाव सर्वत्र है फिर सब ही कार्य सर्वत्र क्यों नहीं होगा? जिससे सब लोगों को अप्रयत्न ही अपने इष्ट की प्राप्ति होगी। इसलिये, हे जड़ आत्मघात करने वाले असत् उपदेश में तू क्यों प्रवृत्त होता है? ॥२६॥

( क्वचिदपि ) कहीं भी ( अभावात् भाव जन्म ) अभावसे वा शून्य से भाव पदार्थ की उत्पत्ति ( न कलितम् ) जानने में नहीं आई। यदि अभाव से ही भाव पदार्थ उत्पन्न होता है तो सर्व वस्तुओं का सर्व वस्तुओं में अभाव है इसलिये सर्व वस्तुओं की सर्व ही वस्तुओं से उत्पत्ति होनी चाहिये और ऐसा होने पर तत् तत् कारण का तत् तत् कार्य की उत्पत्ति के लिये कथन और ग्रहण निष्फल है। फिर आकाश पुष्प आदिकों से खेती आदिक कार्य भी होजाना चाहिये, जिससे कृषिवल यानी किसान भी कृत-कार्य होंगे! ( निर्विशेषात् ) एक ही प्रकार के शून्य रूप अभाव से ( विचित्रम् ) नाना प्रकार का चित्र विचित्र जगत रूप कार्य ( न स्यात् ) नहीं होवेगा। अब कार्य कारणान्वित ही होता है इसलिये ( तेन ) उस अभाव से ( अनुविद्धे ) अन्वित ( अशेषे हि ) सब ही जगत् में प्रसिद्ध ( असत् असत् इति प्रत्ययः स्यात् ) असत असत इस प्रकार अभाव का ही प्रत्यय होना चाहिये। क्योंकि जो कार्य जिस कारण से अन्वित होता है वह कार्य उस कारण के प्रत्यय से

अन्वित ही होता है। अब प्रश्न होता है कि ( ते ) तुझे (अभाव प्रथा ) अभाव रूप कारण की प्रसिद्धि ( केन ) किस प्रमाण से हुई है ? भाव यह है कि अभाव के साथ इन्द्रिय आदिकों का संबंध असंभव होने से किसी भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से तुझे अभाव कारण का ज्ञान नहीं हो सकता। दूसरे, सामान्य भावरूप कारण सर्वत्र वर्तमान है, इसलिये ( सकलम् ) सब ही कार्य ( सर्वतः ) सर्वत्र ( किमिति न स्यात् ) क्यों नहीं होगा ? किन्तु सर्व कार्य सर्व से ही होगा जो दृष्ट बाधित है। इतना ही नहीं, अभाव सर्वत्र सुलभ होने से ( अयत्नम् ) विना ही प्रयत्न से ( सर्वेषाम् अभीष्टं स्यात् ) सब ही लोगों को अपने इष्टकी प्राप्ति हो जावेगी। अर्थ यह है कि अपने २ इष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिये किसी प्रकार के यत्न की किसी भी प्राणी को आवश्यकता नहीं होगी ! इसलिये, हे जड़, ( आत्मघाते ) अपने को नरक प्राप्ति के कारण रूप असत् उपदेश देने में ( किमिति प्रवृत्तः भवान् ) तू किस प्रयोजन से प्रवृत्त हुआ है ॥२६॥

**नैकोऽर्थः सप्तधा स्याद्भवति यदि भवेत्सप्तविध्यं च तद्वज्जीवाजीवादयोऽर्थाः किमिति च न तथा स्याज्जगच्चाव्यवस्थम्। संदेहः स्याद्विरोधादवधृतिरथ ते बंधमोक्षाव्यवस्था सर्वानैकान्त्यवादो गतवसन ततो भाति मत्तप्रलापः ॥२७॥**

एक घटादि पदार्थ सात प्रकार का नहीं हो सकता, जो होता है तो सप्त विध न्याय भी घटादिक के समान अनेक होगा। जीव अजीव आदि अनेक पदार्थ भी सात

प्रकार के क्यों नहीं होंगे? जगत् और शास्त्र व्यवस्था-रहित होगा। तुझे अपना शास्त्रीय निश्चय भी संदेह रूप ही होगा। विरोध से बंध मोक्ष व्यवस्था भी नहीं होगी। इसलिये, हे नग्न, यह तेरा सर्वानेकान्त वाद उन्मत्तके प्रलाप के समान है ॥२७॥

प्रथम इन जैनों की प्रक्रिया जाननी चाहिये, इसलिये पहिले संक्षेपसे उनकी प्रक्रिया लिखता हूं। जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बंध और मोक्ष यह सप्त पदार्थ जैनों के मत में हैं। तहां बोधात्मक भोक्ता जीव कहा जाता है और जड़ रूप भोग्य अजीव कहा जाता है। विषयों के अभिमुख रूप इन्द्रियों की प्रवृत्ति आस्रव कहा जाता है। इनके कोई आचार्य कर्मों का नाम ही आस्रव बतलाते हैं। यह आस्रव मिथ्या प्रवृत्ति रूप है, क्योंकि उक्त अर्थक आस्रव पुरुष को अनर्थ का कारण है। इस मिथ्या प्रवृत्ति के संवरण करने वाला होने से तथा पाप के नाश करने वाला होने से संवर और निर्जर यह दोनों सम्यक् प्रवृत्ति रूप हैं, इसलिये शम, दम, यम नियमादिकों का नाम ही संवर है। तप्त शिला रोहणादिक तप का नाम निर्जर है। कर्मों का नाम ही बंध है और कर्मपाश के नाश होजाने पर लोकाकाश में प्रविष्ट हुए जीव का निरंतर ऊपरी गमन ही इनके मत में मोक्ष पदार्थ है।

शंका—आस्रव आदिक तो जड़ स्वरूप भोग्य अजीव पदार्थ के ही अन्तर्गत हैं ऐसा प्रतीत होता है फिर पदार्थों के सात प्रकार कैसे कहते हैं?

समाधान—संक्षेप से तो इनके मत में जीव और अजीव यह दो ही पदार्थ हैं। फिर इनका ही आगे विस्तार करते हैं कि

अस्तिकाय पांच हैं जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय इनके मत में अस्तिकाय शब्द सांकेतिक पदार्थका वाचक है। चेतनरूप जीव ही जीवास्तिकाय कहा जाता है, तहां परमाणुओं के संघ रूप काया का नाम ही पुद्गल है ( पूर्यन्ते, गलन्ति, यह पुद्गल शब्द की उत्पत्ति है )। सम्यक् प्रवृत्ति से अनुमेय धर्म है। ऊपरी देश गमन शील जीव की देह में स्थिति का हेतु अधर्म कहा जाता है। आवरण के अभाव का नाम आकाश है। फिर इनके मतमें जीवास्तिकाय तीन प्रकार का है। कोई जीव नित्य मुक्त है, जैसे अर्हत आदिक, कोई सांप्रतिक मुक्त हैं और कोई बद्ध हैं। पुद्गलास्तिकाय छः प्रकार का है। पृथिवी आदि चार भूत और एक स्थावर और एक जंगम यह छः पदार्थों की संख्या है और आकाशास्तिकाय दो प्रकार का है। एक संसारी जीवों का आश्रय लोकाकाश है। और दूसरा मुक्त जीवों का आश्रय अलोकाकाश है। बंधाख्य कर्म आठ प्रकार का है तहां चार तो घाति कर्म हैं और चार अघाति कर्म हैं। १ ज्ञानावरणीय, २ दर्शनावरणीय, ३ मोहनीय, ४ आंतर्य ( अंतराय ) यह चारों घाति कर्म हैं। तत्त्वज्ञान से मोक्ष नहीं होता इस प्रकार के ज्ञान को ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। अर्हत दर्शन ( शास्त्र ) के श्रवण करने से मोक्ष नहीं होता, इस प्रकार के ज्ञान को दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। बहुत ही शास्त्रकारों के दिखलाये हुए मोक्ष मार्गों में से विशेष मार्ग निश्चय न करना, इसका नाम मोहनीय कर्म है। और मोक्ष मार्ग की प्रवृत्ति में विघ्न करने वाला कर्म आंतर्य ( अंतराय ) कर्म है। यह चारों कर्म श्रेय के घातक हैं, इसलिये घाति कर्म कहे जाते हैं, वेदनीय, नामिक, गोत्रिक और आयुष्यक, ये चारों अघाति कर्म हैं। मुझे तत्त्व जानना चाहिये, इस अभिमान का नाम वेदनीय

कर्म है, यज्ञदत्त नाम वाला मैं हूँ, इस अभिमान का नाम नामिक कर्म है। मैं पूज्य आर्हत गुरू के शिष्य वंश में प्रविष्ट हूं, इस अभिमान का नाम गोत्रिक कर्म है। और शरीर की स्थिति अर्थक कर्म का नाम आयुष्यक कर्म है अथवा शुक्र शोणित मिश्रित का नाम आयुष्यक है, उस तत्त्व ज्ञानानुकूल देह परिणाम शक्ति का नाम गोत्रिक है। शक्त हुए तिस द्रवीभाव रूप कललावस्था का और बुद्बुदावस्था की आरंभिक क्रिया विशेष का नाम नामिक है। और उस सक्रिय का जठराग्नि करके और वायु करके ईषत् घनी भाव का नाम वेदनीय है। यह उक्त विकल्प से कहे हुए चारों कर्म तत्त्वज्ञान के अनुकूल होने से अथवा तत्त्वावेदक शुक्ल पुद्गल के अर्थ होने से अघाति कर्म कहे जाते हैं। यह आठ प्रकार का कर्म ही जन्म का कारण होने से बंध कहा जाता है, इस प्रकार अपने तंत्र संकेत कल्पित पदार्थों की सप्त भंगी न्याय से अनेकान्तिकता को भी कहते हैं। अर्थात् सप्त भंगी न्याय से एक एक पदार्थ को सात सात प्रकार का भी कहते हैं। सप्त भंगी न्याय यह है—

स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादस्ति च नास्ति च
स्यादवक्तव्यः स्यादस्तिश्चावक्तव्यश्च स्यान्ना-
स्तिचावक्तव्यश्च स्यादस्तिच नास्तिचावक्तव्यश्चेति

स्यात् यह अव्यय तिङंत प्रतिरूपक कथंचिद् अर्थवाला है। स्यात् अस्ति नाम कथंचित अस्ति अर्थात् किसी प्रकार से है, जैसे घटादि सर्वात्मना सदेक रूप होने पर भी प्राप्य रूप से भी वह घटादिक है ही, अतः उस घटादिक की प्राप्तिके लिये यत्न नहीं करना पड़ेगा। इसकारण घटत्वादि रूप से कथंचित् सो घटादि है और प्राप्यादिरूप करके कथंचित् सो घटादि नहीं हैं। इस प्रकार उक्त न्याय से वस्तुमात्र को अनेक रूपता मंतव्य है।

तहां वस्तु की अस्तित्व वांच्छा होने पर, स्यादस्ति, यह आद्य भंग प्रवृत्त होता है और नास्तित्व वांच्छा के होने पर स्यान्नास्ति, यह द्वितीय भंग प्रवृत्त होता है औह क्रम से अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों की वांच्छा होने पर, स्यादस्तिचनास्तिच, यह तीसरा भंग प्रवृत्त होता है। और एक काल में ही अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों प्रकारों की वांच्छा होने पर और अस्ति नास्ति इन दोनों शब्दों को एक काल में कहने में असमर्थ होने से स्यादवक्तव्य, यह चौथा भंग प्रवृत्त होता है। और पहले तथा चौथे भंग ( प्रकार ) की वांच्छा होने पर, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, यह पंचम भंग प्रवृत्त होता है। और दूसरे तथा चौथे भंग की इच्छा होने पर स्यान्नास्तिचावक्तव्यश्च, यह छठा भंग प्रवृत्त होता है। और तीसरे तथा चौथे भंग की इच्छा होने पर, स्यादस्तिनास्तिचावक्तव्यश्च, यह सप्तम भंग प्रवृत्त होता है। इस प्रकार भंगों का यह विभाग है। यह सप्त भंगी न्याय एक, अनेक, नित्य, अनित्य आदि सर्व पदार्थों में कल्पना कर लेना चाहिये। इससे एक में अनेक रूप प्राप्ति होने से एक वस्तु में प्राप्ति तथा त्याग आदि व्यवहार बन सकता है और एक रूप होने से तो सर्व वस्तु सर्वत्र सर्वदा है ही इसलिये प्राप्ति तथा त्याग आदि व्यवहार का लोप ही प्राप्त होता है। इस कारण सर्व पदार्थ अनेकांत हैं। इस प्रकार के उक्त जैन सिद्धांत से श्रुति स्मृति अनुभव सिद्ध एक रूप ब्रह्मवाद का बाध प्राप्त होता है इस कारण से इस नास्तिक जैन का मत यहां खंडन किया जाता है कि एक घटादि पदार्थ सात प्रकार का नहीं हो सकता। जो है सो सर्वत्र सर्वदा है ही, जैसे ब्रह्मात्मा, और जो नहीं है सो है ही नहीं, जैसे शशविषाणादि। घटादि प्रपंच तो उभय विलक्षण है इसलिये एकान्तवाद ही ठीक है, अनेकान्तवाद नहीं। यहां पर पूछना चाहिये कि जिस आकार से जो वस्तु है वह

वस्तु उसी आकार से नहीं है अथवा अन्य आकार से नहीं है। द्वितीय पक्ष में वस्तु के अन्य आकार का ही सद्भाव है और वस्तु को तो सत् एक रूपता ही प्राप्त होती है, क्योंकि दूर स्थित ग्राम की प्राप्ति न हुए भी ग्राम असत् नहीं होजाता क्योंकि यदि प्राप्य ही न होगा तो प्राप्ति का यत्न ही संभव नहीं होगा। इसलिये जिसका जैसा व्यवहार होता है वैसा वह प्रपंच एकरूप है ऐसा मानना ही योग्य है। तहां विरुद्ध धर्मों के किसी प्रकार से एकत्र समावेश हुए भी धर्मों में भेद नहीं है।

(यदि) यदिसब वस्तु अनेकान्त ही (भवति) है तो (साप्तविध्यंच) सप्त विधता भी (तद्वत् भवेत्) घटादिकों की तरह अनेकान्त ही होवेगी और ऐसे होने पर तेरा नियम भंग हो जायगा। (च) और (जीवाजीवादय: अर्था:) जीव अजीवादिक अनेक पदार्थ भी (तथा) सप्त प्रकारके (किमिति न) क्या नहीं होवेंगे ? और यदि इस बात को इष्ट करोगे तो (जगत् च) जगत् तथा शास्त्र (अव्यवस्थम्) व्यवस्था से रहित (स्यात) हो जावेगा। अर्थात् यह जीव है यह अजीव है यह इष्ट है यह अनिष्ट है यह इष्ट का साधन है यह अनिष्ट का साधन है, यह शास्त्र है, यह शास्त्र नहीं है, इस प्रकार की व्यवस्था का नियम सप्त भंगी न्याय से भंग हो जावेगा। इसलिये जीव आदि पदार्थों की जीवत्वादिरूप सप्त रूपता अस्ति और नास्ति इस प्रकार नियत हैं इस पक्ष का खंडन हुआ। अब सो अनियत हैं ऐसे यदि कहे तो इस द्वितीय पक्ष में पदार्थ का निश्चय ही नहीं होगा इस तात्पर्य से कहते हैं कि (ते) तुझे (अवधृति:) स्वशास्त्रीय निश्चय भी (संदेह: स्यात्) संदेह रूप ही होगा, क्योंकि (विरोधात्) निश्चय में भी उक्त सप्त प्रकारक न्याय प्राप्त होजाने से निश्चय भी विरुद्ध सप्त प्रकार में डूब जायगा। इस प्रकार इस अनेकांत वाद में प्रमाज्ञान भी संशय रूप ही

होगा। यही न्याय प्रमातादिकों में भी जान लेना। ( अथ ) उक्त दोष से अनंतर और दोष सुनो, ( बंध मोक्ष व्यवस्था ) उक्त प्रकार सर्वत्र प्राप्त होने से बंध मोक्ष की भी व्यवस्था नहीं होगी अर्थात् बंध मोक्ष को भी संशय रूपता ही होगी। ( ततः ) इसलिये ( हे गतवसन ) हे दिगंबर, अर्थात् लोक परलोक के व्यवहार निश्चयरूप वस्त्रों से रहित नाम मात्रके हे अवधूत, ( सर्वानेकान्तवादः मत्तप्रलापः भाति ) यह तेरा सर्वानेकान्त वाद निरर्थक प्रलाप अर्थात् अनुपादेय प्रतीत होता है ॥२७॥

अब हिरण्यगर्भ के उपासकों का मत श्रुति प्रतिपादित है इस भ्रम को दूर करके उस मत का खंडन करते हैं—

**एवं हैरण्य गर्भाद्युदितमपि जगत्कारणं नादराहं यस्मात् कस्य प्रसूतिः श्रुतिभिरधिगता क्लृतमायुर्मितं च। अस्य ज्ञानादियोगं गमयति च यतो ब्रह्मतो ब्रह्मवाणी तस्माद् ब्रह्मैव मायाशबलितमुचितं श्रौतमेकं निदानम् ॥२८॥**

हिरण्यगर्भ के उपासकों का हिरण्यगर्भ जगत् का कारण है, यह मत आदर के योग्य नहीं है, क्योंकि वेद वचनों से ब्रह्मा की उत्पत्ति कही है उसकी आयु का तथा आयुमान का भी कथन है। वेदवचन से हिरण्यगर्भ का ज्ञान आदि का योग ईश्वर से है, ऐसा कहा है। इससे वेदगम्य एक माया शबल ब्रह्म ही जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है यह मानना उचित है ॥२८॥

( एवम् ) जैसे नैयायिकादिकों ने ईश्वर को केवल निमित्त कारणता बतलाई है वैसे ही ( हैरण्यगर्भाद्युदितमपि ) हिरण्य-गर्भ के उपासकों द्वारा कथन किया हुआ हिरण्यगर्भ ही जगत् का केवल निमित्त कारण है यह मत भी ( नादरार्हम् ) आदर के योग्य नहीं है। ( यस्मात् ) क्योंकि ( श्रुतिभिः ) वेद वचनों से ( कस्य ) ब्रह्मा की ( प्रसूतिः ) उत्पत्ति ( अधिगता ) निश्चय की गई है और वैसे ही पुराणादिकों में ( मितम् ) द्विपरार्द्ध परिमित ( आयुश्चक्लृप्तम् ) उसकी आयु निरूपण की गई है। भाव यह है कि हिरण्यगर्भ स्वयं ही कार्य है, इसलिये वह जगत् का कारण नहीं बन सकता। हिरण्यगर्भ ही कारण है ऐसे वचन तो हिरण्य-गर्भ की उपासना दृढ़ कराने के लिये हैं। और ( यस्मात् ) जिस कारण से ( ब्रह्मवाणी ) वेद ( अस्य ) इस कार्य ब्रह्मरूप हिर-ण्यगर्भ को ( ज्ञानादियोगम् ) ज्ञान शक्ति आदिकों का संबंध ( ब्रह्मतः ) ईश्वर से ( गमयति ) बोधन करता है। ( तस्मात् ) इसलिये ( श्रौतम् ) वेद से जाना हुआ ( एकम् ) अद्वितीय ( माया शबलितं ब्रह्मैव ) अध्यस्त मायोपहित ब्रह्म ही ( निदा-नम् ) जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है ॥२८॥

अब चार्वाक और लोकायतिक नास्तिकों का देहात्मसिद्धांत चार श्लोकों से खंडन करते हैं—

**कश्चिद्दुःखी स्वजन्म प्रभृति सुखयुतश्चापरः कस्य हेतोः कस्मादाद्या प्रवृत्तिस्तनुरपि च कुतः किं न वेत्ति प्रमातः। स्वाभाव्यं हेतु साम्ये सम-मितिविदितं दीप बीजांकुरादौ वैषम्यं कर्म जन्यं यदि गदसि जनैः पूर्वमध्यात्म सिद्धिः ॥२९॥**

अपने जन्म से लेकर कोई दुःखी और कोई सुखी किस हेतु से होते हैं? प्रथम प्रवृत्ति किस कारण से होती है? शरीर भी किस कारण से होता है? मरा हुआ क्यों नहीं जानता? वैसा स्वभाव ही है ऐसा कहो तो वह कारण सर्वत्र समान होने से दीप और बीजांकुर के समान उसका कार्य भी एकसा ही होगा यह सबको विदित है। यदि विषमता कर्मजन्य है, ऐसा कहे तो शरीर की उत्पत्ति के पूर्व आत्मा की सिद्धि हुई ॥२९॥

( स्वजन्म प्रभृति ) अपने जन्मकाल से लेकर ( कश्चित् दुःखी ) कोई तो प्रतिकूल वेदनीय लक्षण दुःख वाला ही रहता है, ( अपरश्च ) और कोई दूसरा ( सुखयुतः ) अनुकूल वेदनीय लक्षण सुख के सहित ही रहता है, ( कस्य हेतोः ) यह सुख दुःख की व्यवस्था किस कारण से है? ( आद्या प्रवृत्तिः कस्मात् हेतोः ) और प्राणियों की पहली स्तन्यपान आदि की प्रवृत्ति भी किस कारण से होती है? ( तनुरपि च ) और शरीर भी ( कुतः ) किस कारण से होता है? ( प्रमीतः ) मरा हुआ ( किं न वेत्ति ) क्यों नहीं जानता अर्थात् देहरूप आत्मा मरा हुआ भी इष्ट अनिष्ट को क्यों नहीं जानता?

शंका—शरीर ही आत्मा है इस मतमें शरीरों के सुख दुःख की विचित्रता का कारण ( स्वाभाव्यम् ) स्वभाव ही है अर्थात् निज निज धर्मवत्त्व ही है।

समाधान—( हेतुसाम्ये ) वहां कारण समान होने से ( स्वाभाव्यम् ) स्वभाव भाव अर्थात् निज धर्मवत्त्व भी तो

( समम् ) समान ही है ( इति ) यह समानता ( दीपांकुरादौ विदितम् ) दीप में और बीजांकुर आदिकों में प्रसिद्ध है। भाव यह है, तैलादिक कारणके सम होने पर सर्व दीपकों का प्रकाशन, बीजादिक हेतु के सम होने पर बीजांकुरों की व्यक्ति विशेषत्वादिक भी सम ही देखा है। हेतु के विषम होने से ही स्वभाव की विषमता होती है। इसलिये सुख दुःखादिकों की विचित्रता में स्वभाव कारण नहीं हो सकता। ( यदि ) यदि ( वैषम्यम् ) सुख दुःखादिकों की विचित्रता ( कर्मजन्यम् ) कर्म जन्य है अर्थात पुण्य पाप के अधीन है ( गदसि ) ऐसा तू कहेगा तो ( जनेः ) शरीर की उत्पत्ति से ( पूर्वमपि ) पहले भी ( अध्यात्म सिद्धिः ) शरीर से भिन्न आत्मा की सिद्धि हो ही जाती है। भाव यह है, शरीर की उत्पत्ति काल में विचित्र विचित्र पुण्य पापरूप कर्मों का होना ही असंभव है, इसलिये प्राचीन पुण्य पापरूप अदृष्ट कर्मों का कर्ता शरीर से भिन्न नित्य आत्मा चेतनरूप बलात्कार से सिद्ध होवेगा ॥२९॥

**मानं प्रत्यक्षमेकं यदि कथय कथं भासितं ते प्रमाणं संभाव्यार्थं सदोषं यदि तदपि बली किं न वेदो विदोषः। न ह्यध्यक्षं विनाक्षैर्न च तव सुगमा मानताऽध्यक्षमात्रे ज्ञानं नान्यस्य बोद्धुं प्रभवति च भवांस्तेन मिथ्या प्रलापी॥३०**

यदि तू एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही को मानता है तो तेरे वचन में प्रमाणता क्या है ? वह तो दोष सहित है। यदि तेरा वचन निश्चयार्थ वाला है तो भी दोषयुक्त ही है।

फिर दोषरहित वेदप्रमाण बलिष्ठ क्यों नहीं ? इन्द्रिय के विना प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं होता इसलिये तू जो केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को मानता है वह तुझे सुगम नहीं है। केवल प्रत्यक्ष से अन्य का भाव जानने में समर्थ नहीं होगा, इसीसे तेरा मिथ्या बकवाद ही है ॥३०॥

( यदि ) यदि आत्मा आदिकों के निश्चय करने में तुम्हारे मत में ( एकं प्रत्यक्षं मानम् ) एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है तो ( ते ) तुम्हारा ( भाषितम् ) कहा हुआ वचन ( कथं प्रमाणम् ) किस प्रमाण से प्रमाण माना जायगा ( कथय ) यह तुम कहो। भाव यह है कि यदि प्रत्यक्ष ही प्रमाण है तो तुम्हारे मत में तुम्हारे अनेक प्रकार के शरीरों के भरण पोषणादिक का शास्त्र वाक्यों से किसी को बोध नहीं होगा, क्योंकि तुम्हारा शास्त्र रूप वाक्य तो प्रत्यक्ष से भिन्न है। इसलिये तुम्हारी स्वशास्त्र रूप वाक्य प्रमाण रचना में प्रवृत्ति भी उन्मत्त प्रवृत्ति है। इतने कहने से अनुमान प्रमाण भी इस नास्तिक प्रत्यक्षमात्र मानी चार्वाक को शब्द प्रमाण की तरह बलात्कार से मानना पड़ेगा। क्योंकि अन्यथा इसकी भोजन आदिकों में प्रवृत्ति के अभाव से मरण प्राप्त होगा। कारण यह है कि अभुक्त भोजन में तृप्ति का प्रत्यक्ष नहीं है, किंतु उससे तृप्ति अनुमेय ही है, ( सदोषम् ) भ्रम, प्रमाद, दोष सहित ( तदपि ) तुम्हारा कथन रूप शास्त्र वाक्य ( यदि ) यदि ( संभाव्यार्थम् ) निश्चितार्थ वाला है अर्थात् प्रमाण है तो ( विदोषः ) अपौरुषेय होने से अर्थात् पुरुष द्वारा नहीं रचा होने से उक्त भ्रम प्रमादादि दोष रहित ( वेदः किं बली न ) सब प्रमाणों में यह वेद रूप प्रमाण क्या बलिष्ट प्रमाण नहीं है ? अवश्य है। अब अनुमान प्रमाण भी तुमको अवश्य मानना

पड़ेगा, ( हि ) क्योंकि ( अक्षैः ) इन्द्रियों के ( विना अध्यक्षम् ) विना प्रत्यक्ष ( न ) सिद्ध नहीं होसकता और इन्द्रियों का इन्द्रियों से प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता. किंतु अनुमान प्रमाण द्वारा तथा शास्त्र प्रमाण द्वारा ही इन्द्रियों का ज्ञान होता है। इसलिये हे चार्वाक ( अध्यक्ष मात्रे ) केवल प्रत्यक्ष प्रमाण में ही ( मानता ) प्रामाण्य मानना ( तत्र ) तुझको ( न सुगमा ) सुलभ नहीं है। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण कहने मानने वाले ( भवान् ) तुम ( अन्यस्य ) अपने से भिन्न दूसरे पुरुष के ( ज्ञानम् ) ज्ञान इच्छा आदिकों के ( बोद्धुम् ) जानने को ( न प्रभवति ) समर्थ नहीं होंगे, क्योंकि दूसरे पुरुष के ज्ञान, इच्छा सुखादिकों का चेष्टा मुख प्रसन्नता आदिक लिंगों से ही अनुमान किया जाता है। ( तेन ) इन सब कारणों से ( भवान् मिथ्या प्रलापी ) तुम मिथ्या बकवाद करने वाले हो ऐसा प्रतीत होता है ॥३०॥

**गोरः स्थूलो युवाहं पटुरिति च तनावात्म बुद्धिर्जनानां स्वाभाव्यादेव सिद्धेत्यधिगमयदिदं निष्फलं दर्शनं ते। वेदद्वेषात्प्रवृत्तं यदि बत न तरां द्वेष मूलं प्रमाणं दैवान्नष्टस्त्वमेकः किमिति शठ परान् हंत हंतुं प्रवृत्तः ॥३१॥**

मनुष्यों को मैं गोरा हूं, मोटा हूं, युवान हूं, चतुर हूं, इस प्रकार शरीर में आत्मबुद्धि स्वभाव से ही सिद्ध है इससे तेरे दर्शन का उपदेश निष्फल है। यदि वेद के द्वेष करने में तू प्रवृत्त हुआ है तो खेद है! द्वेष हेतु होने से तेरा

कथन अप्रमाण है, हे ठगने वाले धूर्त ! दैव से तू एक ही नष्ट हुआ है, आहा ! दूसरों को भी नाश करने में क्यों प्रवृत्त हुआ है ? ॥३१॥

( जनानां ) प्राणियों को ( गौरः ।स्थूलः पटुः अहम् ) मैं गौर रंग वाला हूं, मैं स्थूल अर्थात् मोटा हूँ, मैं नवयुवक हूं, मैं कुशल हूँ ( इति ) इस प्रकार ( तनौ ) शरीर में ( आत्मबुद्धि स्वाभाव्यात् ) आत्मबुद्धि स्वभाव से ( एवसिद्धा ) ही सिद्ध है। ( इति ) इसलिये उक्त गौरोहं इत्याकारक प्रत्यय स्वभावसिद्ध देहात्मता को ( अधिगम्यत् ) बोधन करता हुआ ( ते ) तेरा ( दर्शनम् ) शास्त्र ही ( निष्फलम ) निष्फल है। अर्थ यह है कि देह में आत्मबुद्धि तो विना ही उपदेश से प्राणियों को स्वतः सिद्ध है फिर तुम्हारे शास्त्र उपदेश ने किस अज्ञात अर्थ का ज्ञान कराया है ? किसी का भी नहीं। इसलिये तेरा शास्त्र निरर्थक है। ( यदि द्वेषात्प्रवृत्तम ) यदि तेरा शास्त्र अकारण ही वेद प्रमाण से द्वेष धारण कर प्रवृत्त हुआ हो तो ( वत ) खेद है कि ( द्वेषमूलम् ) वेद से द्वेष करने वाला तेरा शास्त्र द्वेषमूलक होने से ( नतराम् प्रमाणम् ) अत्यंत ही अप्रमाण है। इस प्रकार किसी तरह से भी तेरा शास्त्र प्रमाण न होने से ( शठ ) हे धर्म से अपने को तथा अन्य जनों को वंचन करने वाले धूर्त, ( दैवात ) अशुभ प्रारब्ध से ( एकः त्वं नष्टः ) एक तू तो नाश को प्राप्त हुआ ही है अर्थात् आप तो किसी पूर्वजन्म कृत पाप कर्म से वेद से विपरीत बुद्धि अनात्मदर्शी होकर नाश हुआ ही है परन्तु ( हन्त ) बड़ा खेद है कि तू ( परान् ) अन्य पुरुषों को ( हन्तुम् ) वेद विरुद्ध शास्त्र रचनोपदेशों द्वारा वेद विरुद्ध बुद्धि को उत्पन्न करके नाश करने के लिये अर्थात् नरकगामी करने

के ( किमिति ) किस प्रयोजन से ( प्रवृत्तः ) प्रवृत्त हुआ है ? ॥३१॥

**रेतोरक्त प्रसूतं जडमशनचितं षड्विकारं त्वगस्थि स्नायु क्रव्यान्त्र मज्जा रुधिरमय मति स्वल्प माध्यामयाऽऽढ्यम् । प्राणापाये मृदादि प्रतिममपि च विट् कीट भस्मावशेषं देहं तं मूढ कस्मादहमिति मनुषे केन वा वंचितोसि ॥३२॥**

माता पिता के शुक्रशोणित से उत्पन्न हुआ, जड़, भोजन से बढ़नेवाला, छः विकारोंवाला, चमड़ी, हाड़, मांस, मेद, मज्जा और रुधिरवाला, अति तुच्छ मानसिक और शारीरिक दुःखोंवाला, मरण होनेपर मृत्तिकातुल्य, मल कृमि वा भस्म ही शेष रहनेवाला जो शरीर है, हे मूढ़ ! तू ऐसे देह को किस कारण से मैं हूं ऐसा मानता है ? किस पापात्मा से तू ठगा गया है ॥३२॥

( रेतो रक्त प्रसूतम् ) माता पिता के शुक्र शोणित रूप धातुओं से उत्पन्न ( जड़म् ) स्वभाव से ही जड़ तथा ( अशनेन चितम् ) अन्नादिकों के भक्षण से वृद्ध अर्थात् बढ़ने वाला ( षड् विकारम् ) 'जायतेऽस्ति वर्द्धते विपरिणमते पक्षीयते विनश्यतिच' इस यास्क मुनि कथित उत्पत्ति आदि छः विकारों के सहित अर्थात् छः विकारों वाला ( त्वक् अस्थि स्नायु क्रव्य अन्त्र मज्जा

रुधिरमयम् ) चर्म, हाड़, नाड़ी, मांस, आंतें, मज्जा और रुधिर इन सात धातुओं की बाहुल्यता वाला अतएव ( अतिस्वल्पम् ) अति तुच्छ ( आध्यामयाढ्यम् ) मन के और शरीरके दुःखों के सहित अर्थात् कामादि भंग जन्य अन्तर मानसी पीड़ा वाला और ज्वर रेचन आदिक शरीरिक दुःखों वाला ( प्राणापाये ) तथा प्राण के वियोग होने पर अर्थात् मरण होने पर ( मृदादि प्रतिमम् )मृत्तिका पिंड आदिकों के समान ( अपिच ) तथा ( विट् कीट भस्मावशेषम् ) मृत्युके अनन्तर भक्षण, बहुकाल स्थिति तथा दाह इनसे मल, कृमि तथा भस्म रूप से अवशिष्यमाण जो यह शरीर है, ( मूढ़ ) हे मूर्ख ( तम् ) ऐसे नीच और निंदित ( देहम् ) शरीर को ( कस्मात् ) किस कारण से ( त्वम् ) तू ( अहं इति मनुषे ) अपना आत्मा मानता है, इसमें ग्लानि क्यों नहीं करता ? और तू ( केन वंचितोसि ) किस पापात्मा ठग द्वारा ठगा गया है ॥३२॥

अब इन्द्रियात्मत्व का खंडन करते हैं—

**खानामात्मत्ववादे प्रति नियत गतौ स्वामि नानात्व दोषाद् देहोन्माथ प्रसंगः समुदित विषये त्वन्धमूकाम्रियेरन् । उक्तिदृष्ट श्रुतानामपिच न घटते नापि संघो निरुप्यः स्वप्न दृष्टैव न स्याच्छयन मरणयोर्निर्विशेषाद्भयं स्यात् ॥३३**

इन्द्रियां आत्मा है ऐसा मानने में इन्द्रियां सब दिशाओं में विषय ग्रहण के हेतु प्रवृत्त होगी और देह का

नाश ही होगा। इन्द्रिय समुदाय आत्मा है ऐसा कहो तो अंध तथा मूक लोग मरेंगे। देखे सुने का कथन होने से एक इन्द्रिय आत्मा नहीं घटता और समुदाय आत्मा का निरूपण भी नहीं बन सकता। स्वप्न द्रष्टा की सिद्धि न होगी तथा मरण और सोने में इन्द्रियलय समान ही है इससे सोने में भी भय प्राप्त होगा। इसलिये इन्द्रियों को आत्मा मानना असंगत है ॥२३॥

( खानाम् ) इन्द्रियों को ( आत्मत्ववादे ) आत्मा मानने वालों के मतमें ( देहोन्माथ प्रसंगः ) देहका उन्मथन प्रसंग प्राप्त होगा। क्योंकि, ( प्रतिनियति गतौ ) इन्द्रिय इन्द्रिय के प्रति आत्मत्वता का तुम्हारे मत में निश्चय है, इसलिये भिन्न भिन्न दिशा में एक ही काल में सर्व इन्द्रिय रूप आत्मा अपने अपने विषयके ग्रहण करने अर्थ प्रवृत्त होंगे और इस प्रकार विरुद्ध दिशा की प्रवृत्ति से शरीर का मथन ही होगा। क्योंकि लोक में भी देखा गया है कि ( स्वामिनानात्वदोषात् ) एक ही पदार्थ स्व स्य कार्य के लिये एक ही काल में भिन्न भिन्न दिशाओं के देशों में जाता है बहुत स्वामियों द्वारा खेंचा हुआ देह नाश को प्राप्त हो जायगा। और सर्व ही स्वामियों के सम बल होने पर वह पदार्थ अक्रिय भी हो सकता है। यदि सब मिले हुए इन्द्रिय ही आत्मा है, यह पक्ष है, तो इस पक्ष का भी एक एक इन्द्रिय की आत्मता के खंडन की तरह खंडन किया जाता है। ( समुदितविषये ) सब ही इन्द्रिय मिल करके आत्मा बनता हो तो ( अन्धमूका म्रियेरन् ) अंध और मूक लोग तो मर ही जायेंगे, क्योंकि समुदाय घटक सामग्री में किंचित विनाश हुए तादृश्य समुदायरूप आत्मा का

विनाश होजाने से अंधे गूँगे बहरे आदिकों का विनाश अर्थात् मरण अवश्य ही होजाना चाहिये ! एक २ इन्द्रियात्म पक्ष में और दोष है वह सुनिये । ( दृष्टश्रुतानान् ) देखे हुए और सुने हुए पदार्थों का ( उक्तिः ) कथन लोक में प्रसिद्ध है अर्थात पहले देखे वा सुने हुए पदार्थ का ही लोक स्मृति से कथन करते हैं, यह वार्ता सर्वत्र प्रसिद्ध है । यह कथन एक २ इन्द्रिय ही आत्मा हो तो ( न घटते ) संभव नहीं, क्योंकि नेत्र से देखा हुआ, कानों से सुना हुआ और त्वचा से स्पर्श किया हुआ अर्थ दर्शन, श्रवण और स्पर्श की सामर्थ्य से हीन वाणी से कहना कठिन है, क्योंकि अन्य अनुभूत पदार्थ का अन्य स्मरण कर कथन करते नहीं देखा, अन्यथा अति प्रसंग प्राप्त होगा । इन्द्रिय के समुदाय को ही आत्मता मानने में और दोष भी है । ( संघोपि ) उक्त इन्द्रियों का समुदाय भी ( न निरूप्यः ) वह संघ संघियों से भिन्न है वा नहीं इत्यादि विकल्प करते हुए विचार करने से उसका ठीक निरूपण ही नहीं हो सकता, तथा स्वप्न में सर्व इन्द्रियों का अभाव होने से ( स्वप्न द्रष्टैव न स्यात् ) स्वप्न द्रष्टा का ही अभाव होगा क्योंकि इन्द्रियों से भिन्न आत्मा ही तुम्हारे मत में नहीं है, इस कारण स्वप्न का बोध ही तुम्हारे मत में नहीं होवेगा और इसी कारण जैसे मरण अवस्था की प्राप्ति का लोगों को भय है वैसे ही शयन अवस्था की प्राप्ति का भी लोगों को भय ही होगा; क्योंकि ( मरणशयनयोर्निर्विशेषात् ) मरण अवस्था में तथा शयन अवस्था में इन्द्रियों का लय समान ही है। इस प्रकार इन्द्रियात्मवाद में अनेक दोष होने से इन्द्रियों को आत्मा मानना असंगत है ॥३३॥

अब प्राण ही आत्मा है इस मत का निराकरण करते हैं—

प्राणो नात्मा जड़त्वादशनसिततया वृत्ति लाभा-
त्सुषुप्तावेतस्मिन् संचरत्यप्यहमचल इति प्रत्य-
यादम्मयत्वात् । स्रष्टा स्वोत्क्रान्तयेस्या मरण-
मपि धृतेर्जीवशब्दाभिधेयस्तस्मादन्योऽस्ति रक्षन्
स्वनिलयममुना दीप्तिमानेक हंसः ॥३४॥

खान पान से बंधे हुए अर्थात् स्थिति पाने वाले ज़ड़ तथा जलमय होने से प्राण आत्मा नहीं है । सुषुप्ति में उसकी अधिक प्रवृत्ति होती है । उसे चलते हुए भी मैं स्थिर हूं ऐसा भान होता है । यह शरीर से जाते हुए वायु के विकार रूप प्राण उसके उत्पादक है और मरण पर्यन्त इस प्राण को धारण करने से आत्मा जीव कहलाता है । इसलिये आत्मा से यह भिन्न है । शरीर रूप घोंसले को प्राण से पालन करने वाला स्वप्रकाश रूप अद्वैत आत्मा इससे भिन्न है ॥३४॥

( प्राणः आत्मा न ) प्राण भी आत्मा नहीं है, क्योंकि ( जड़त्वात् ) घटादिकों की तरह प्राण भी जड़ है ( अशनसित-तया ) अन्न का भक्षण करने से प्राण बद्ध है अर्थात् प्राण की स्थिति अन्न के अधीन है तथा ( अम्मयत्वात् ) प्राण को वेद में आपोमय लिखा है, इसलिये प्राण जल के अधीन है, तथा ( सुषुप्तौ वृत्तिलाभात् ) सुषुप्ति में प्राणों की अधिक प्रवृत्ति उप-

लब्ध होती है। भाव यह है कि आत्मा अर्थात् बुद्धि का परमात्मा में सुषुप्ति में लय होता है ऐसा श्रुति कथन है। इन सब हेतुओं से प्राण भी घटादि की तरह अनात्मा ही है। वैसे ही ( एतस्मिन् ) इस प्राण के ( संचरति अपि अहं अचलः ) चलायमान होने पर भी मैं स्थिर हूँ ( इति प्रत्ययात् ) इस प्रतीति से भी प्राण अनात्मा है। ( स्वोत्क्रांतये ) आत्मा शरीर से अपने निर्गमन के लिये ( अस्य ) इस वायु के विकार रूप प्राण का ( स्रष्टा ) उत्पादक है तथा ( आमरणम् ) मरण पर्यन्त अर्थात् शरीर से प्राणों के वियोग पर्यन्त ( अस्य धृतेः ) इस प्राण के धारण से ( जीवशब्दाभिधेय ) आत्मा जीव शब्द का वाच्य होता है अर्थात् जीव शब्द से कहा जाता है। इन उक्त हेतुओं से आत्मा ( तस्मादन्योऽस्ति ) उस प्राण से भिन्न है। अर्थ यह है कि जैसे रथादिक पुरुषकी देशांतर गतिके साधन होने से अपुरुष हैं, तैसे ही प्राण भी आत्मा की देशांतर गति के साधन होने से अनात्मा ही हैं। और जैसे रथ के उत्पन्न करने वाला और रक्षा करने वाला पुरुष रथ से भिन्न ही है, तैसे आत्मा भी प्राण का उत्पादक तथा रक्षक होने से प्राण से भिन्न ही है। ( स्वनिलयम् ) घोंसले रूप शरीर को ( असुना ) इस प्राण द्वारा ( रक्षन् ) पालन करता हुआ ( दीप्तिमान् ) स्वप्रकाश स्वरूप ( एकहंसः ) एक ही आत्मा तीनों अवस्था में विचरता है। इससे भी आत्मा प्राणों से पृथक् है। अर्थ यह है कि प्राण जड़ होने से घट के समान तथा करण होने से रथ के समान अनात्मा है ॥३४॥

अब मन आत्मा है इस मत का निराकरण करते हैं—

**उद्भूतेः साधनत्वादशनमयतया शुद्ध्यशुद्धि प्रती-**

**तेर्हेतुत्वाद्बंधमुक्त्योस्तदनुतनु भृतेस्तन्मयत्व-श्रुतेश्च । जाग्रत्स्वप्न प्रशांतौ करण गण लये तत्प्रशांतेः सुषुप्तेरुत्थाने सुप्तिसौख्यस्मृतिभिरपि मितं मानसं चापि नात्मा ॥३५॥**

उत्पन्न होने से, साधन होने से, अन्न का विकार होने से, बंध और मोक्ष का हेतु होने से, मन के अनुसार शरीर का ग्रहण होने से, तादात्म अध्यास से, सुषुप्ति में करण का लय होने पर मन का लय होने से और सुषुप्ति से उठकर सुषुप्ति और सुख की स्मृति होने से मन आत्मा नहीं है, ऐसा निश्चय होता है ॥३५॥

( उद्भूतेः ) परमात्मा से मन की उत्पत्ति होने से तथा ( साधनत्वात् ) श्रवण आदिकों का करण होने से तथा ( अशनमयतया ) 'अन्नमयं हि मनः सोम्य' इस श्रुति में मनको साक्षात् ही अन्न का विकार श्रवण होने से तथा श्रुति और अनुभव से (शुद्धय शुद्धि प्रतीतेः) मनकी शुद्धि और अशुद्धि प्रतीत होनेसे अर्थात् काम आदिकों के सहित होकर मन की अशुद्धि प्रतीत होने से और काम आदिकों से रहित होने पर मन की शुद्धि प्रतीत होने से मन भी आत्मा नहीं है। वैसे ही ( बंध मुक्त्योर्हेतुत्वात् ) अशुद्ध मन बंध का कारण है और शुद्ध मन मुक्ति का कारण है, इस हेतु से भी मन आत्मा नहीं है और ( तदनु तनुभृतेः ) मन के पीछे ही शरीर का ग्रहण होने से भी मन आत्मा नहीं। अर्थ यह है कि मन जिस शरीर को ग्रहण करता है, जीव उसी शरीर

को प्राप्त होता है। ( तन्मयत्व श्रुतेः ) तादात्म्य अध्यास से आत्मा को वेद में मनोमय कहा हुआ होने से ( जाग्रत्स्वप्न-प्रशांतौ ) जाग्रत और स्वप्न न रहने पर अर्थात् सुषुप्ति में (कर-णगणलये) इन्द्रिय रूप करण समुदाय के लय होने पर ( तत्प्र-शांते उस मन का भी लय हो जाने से तथा ( सुषुप्तेः) सुषुप्ति अवस्था से ( उत्थाने ) जाग्रत् अवस्था में ( सुषुप्ति सौख्य स्मृति भिरपि ) सुषुप्ति और सुषुप्ति में होने वाले सुख की स्मृति होने से भी ( मानसं ) मन ( आत्मा न ) आत्मा नहीं ( मितं ) यह निश्चय होता है। भाव यह है कि मनका सुषुप्ति में लय होजाने से सुषुप्ति और सुषुप्ति के सुख का अनुभव करने वाला न होने से मन को आत्मा मानने वाले के मत में सुख और अज्ञान का स्मरण जाग कर नहीं होना चाहिये परन्तु होता है, इससे मन आत्मा नहीं है और उत्पत्ति आदिक आठों ही हेतु आत्मा में नहीं है, यह अर्थ श्रुति प्रमाणों से जान लेना चाहिये ॥३५॥

अब स्थिर विज्ञान ही आत्मा है इस मत का खंडन करते हैं—

**विज्ञानं स्थायि यत्तत्सममिह मनसा किंच नानात्मता स्यात् तस्यानेकात्मकत्वात् तदभि-मतिवशादात्मबंधश्रुतेश्च । सारथ्यं तस्य क्लृप्तं यदपि तनुरथेस्त्वात्मनो भोगमुक्त्योस्तस्मा-दन्योऽस्यसाक्षी तदुपहित तनुश्चिन्मयोऽस्त्य-न्तरात्मा ॥३६॥**

इस शरीर में बुद्धि का पर्याय नित्य विज्ञान है। यह मन के समान है, आत्मा नहीं है। यदि होता तो उस विज्ञान के अनेक रूप होने से अनेक आत्मा हो जायेंगे। विज्ञान में तादात्म्य ज्ञान के हेतु से आत्मा का बंध सुना गया है। शरीर रूप रथ में यह सारथी है यह कल्पना की गई है। इससे भी विज्ञान का साक्षी उपहित चेतन वास्तव में सबके आन्तर रहा हुआ आत्मा है और वह विज्ञान से पृथक् है यही ज्ञात होता है ॥३६॥

(इह) इस शरीर में (स्थायि यत् विज्ञानम्) बुद्धि का अपर पर्याय जो नित्य विज्ञान है (तत्) वह बुद्धि रूप नित्य विज्ञान भी (मनसा समम्) उत्पत्ति आदिक उक्त आठ हेतुओं में मन के ही समान है। अर्थ यह है कि उत्पत्ति आदिक उक्त हेतुओं से बुद्धि भी अनात्मा ही है। यदि यह विज्ञान आत्मा माना जावेगा तो (नानाऽत्मता स्यात्) शरीर में अनेक आत्मा हो जावेंगे क्योंकि (तस्य अनेकात्मकत्वात्) उस विज्ञान के अनेक रूप होते हैं। अर्थ यह है कि बुद्धि सावयव है और अवयवावयवी का तादात्म्य होता है, इसलिये शरीर में नाना आत्मा हो जावेंगे और आत्मा का नानात्व इष्ट नहीं है। इस कथन से बुद्धि की अनित्यता भी कही गई जान लेनी चाहिये क्योंकि जहां जहां सावयवता होती है, तहां तहां अनित्यता भी अवश्य ही होती है, किंच (तदभिमतिवशात्) विज्ञान में तादात्म्य अध्यास रूप हेतु से (आत्मबन्धश्रुतेश्च) आत्मा को बंध होता है, ऐसी श्रुति है इस कारण से भी आत्मा बुद्धि से भिन्न है। तथा (स्वात्मनः भोगमुक्तयोः) आत्मा के भोग मोक्ष का यह विज्ञान निमित्त है, इस

कारण भी विज्ञान से आत्मा पृथक है। ( तनुरथे ) शरीर रूपी रथ में ( तस्य ) 'बुद्धिं तु सारथिंविद्धि' इस कठ श्रुति ने विज्ञान को ( यदपि सारथ्यं क्लृप्तम् ) जो सारथीपना कल्पना किया है वह भी बुद्धि और आत्मा के भेदको ही बतलाता है। ( तस्मात् ) इसलिये ( अस्य ) इस अनात्म भूत विज्ञान का ( साक्षी ) उदासीन होकर जानने वाला ( तदुपहित तनुः ) विज्ञाननैक उपहित स्वरूप और वास्तव में ( चिन्मयः ) केवल चेतन स्वरूप ( अंतः ) सबके अंतर विज्ञानादिकोंका अधिष्ठानरूप (आत्मा अस्ति) सच्चिदानन्द स्वरूप व्यापक आत्मा उस विज्ञानादिकों से भिन्न है ॥३६॥

अब शरीर में व्यापक ज्ञानगुणवाला तथा अणु परिमाण आत्मा है, इस पंचरात्रादिकों के मत का निरास करते हैं।

**अणवात्मा चित्स्वरूपो यदि सकलतनौ शैत्य बोधो न ते स्यात् नावैधर्म्येऽस्य बोधःसकल तनु गत ग्राहकोऽन्यो गुणश्च। वैधर्म्येऽणोर्गुणश्चित्कथमखिल तनुं व्याप्नुयादाणवं वा सिद्धं केनात्मनस्ते श्रुतिभिरिति नयत्तास्तदानन्त्यनिष्ठा ॥३७॥**

तुम्हारे मत में चेतन स्वरूप अणु परिणाम वाला आत्मा है तो तुमको सब शरीरमें शीतलता का ज्ञान नहीं होगा। गुण गुणी के विरुद्ध धर्म के अभाव से सब देह में शीतलता का ग्रहण करने वाले इस आत्मा का ज्ञान गुण

चेतन के समान होने से आत्मा से भिन्न नहीं होगा और आत्मा और ज्ञान का विरुद्ध धर्म होने से जड़ रूप अणु आत्मा का चेतन रूप ज्ञान गुण सब शरीर में कैसे व्याप्त होगा ? आत्मा का अणु परिणाम तुझे किस प्रमाण से सिद्ध है ? श्रुति से ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि यह श्रुति आत्मा की अपरिच्छिन्नता के तात्पर्य वाली है ॥३७॥

( ते ) हे वादी तुम्हारे मत में ( यदि चित्स्वरूपः अणु आत्मा ) यदि चेतन स्वरूप अणु परिमाण वाला आत्मा है, तो तुम्हारे मत में ( सकल तनौ ) सारे ही शरीर में अर्थात् आत्मा से संबंध वाले अणुरूप शरीर के अवयव से भिन्न सर्व ही शरीर में ( शैत्य बोधो न स्यात् ) शीतलता का ज्ञान नहीं होगा।

पूर्वपक्ष—आत्मा 'सर्व शरीरावयवव्यापि' तथा ज्ञान गुण वाला है अतः हमारे मत में यह उक्त दोष नहीं आता।

समाधान—हे वादिन गुण गुणी भाव वैधर्म्यता में ही देखने में आता है। तुम्हारे मत में आत्मा भी चेतन है और ज्ञान गुण भी चेतन है इस प्रकार से ( अवैधर्म्ये ) वैधर्म्यता का अभाव होने पर ( सकलतनु गत ग्राहकः ) सर्व ही देह गत शीतलता आदिकों के ग्रहण का कर्ता ( अस्य ) इस आत्मा का ( बोधो गुणश्च ) ज्ञान संज्ञक गुण भी ( अन्यो न स्यात् ) चेतनता समान होने से आत्मा से भिन्न नहीं होगा। और ( वैधर्म्ये ) आत्मा और ज्ञान की विधर्मता होने पर ( अणोः ) जड़ रूप अणु आत्मा का ( चित गुणः ) चेतन रूप ज्ञान गुण ( अखिलतनुं कथम ) सब ही शरीर को किस प्रकार ( व्याप्नुयात् ) व्याप्त करेगा। भाव यह है कि गुण गुणी की समान देशता का

नियम है अर्थात् गुणों को त्याग कर गुण देशांतर में नहीं जा सकता इस कारण से सारे शरीर को चेतन रूप ज्ञान गुण भी व्याप्त नहीं कर सकता, अतः सर्व शरीर में शैत्यता का अनुभव नहीं हो सकेगा। ( वा ) किंवा ( आत्मन आणवम् ) आत्मा का अणु परिमाण ( ते ) तुझको ( केन ) किस प्रमाण से ( सिद्धम् ) सिद्ध है ? 'वालाग्रशत भागस्य' इत्यादिक ( श्रुतिभिरिति न ) श्रुतिओं से ही हमको आत्मा की अणु परिमाणता विदित है यह नहीं कह सकते ( यत् ) क्योंकि ( ता ) वह ( वालाग्र ) इत्यादिक श्रुतियां ( तदानन्त्यनिष्ठाः ) उस आत्मा की अपरिच्छिन्नता में तात्पर्य वाली हैं। अर्थ यह है कि परस्पर विरुद्ध जो अनेक आत्म परिमाण को प्रतिपादन करने वाली श्रुतियां हैं वे उपाधि की नाना रूपता को लेकर ही चरितार्थ हैं। वालाग्र भाग की श्रुति तो आत्मा की दुर्विज्ञेयता को निर्दिष्ट करती है, अन्यथा 'महतो महियान' इत्यादि श्रुति का विरोध होगा ॥३७॥

अब भाट्ट मत का दोष दिखाते हैं—

**नैकः स्याच्चिज्जडात्मा कथमथ विषयः सस्वयं स्वस्य कौ तावंशौ योगस्तथात्मा किमिति च जडता केन वा चेतनस्य। कर्तृत्वं तस्य की दृक् करण समुदयं नैष धत्ते कथंवातत्त्वं जीवस्व देवप्रिय पशुभिरिदं कर्मठे दुर्निरूपम् ॥३८॥**

आत्मा एक होते हुए जड़ और चैतन्य नहीं हो सकेगा क्योंकि फिर वह अपना विषय आप कैसे करेगा ? उसके

अंश क्या है ? और उसका योग कैसे है ? आत्मा क्या है ? चेतन की जड़ता किस कारण है ? कैसे उत्पन्न होती है ? उसका कर्तव्य किस प्रकार है ? देव पूजक पशु कर्मठों से जीव तत्त्व का निरूपण करना कठिन है ॥३८॥

( आत्मा एक: चिज्जडात्मा न स्यात ) आत्मा एक होते हुए चित् जड़ रूप नहीं हो सकता, क्योंकि एक अधिकरण में विरुद्ध धर्मों का समावेश हो नहीं सकेगा। ( अथ ) चेतन और जड़ रूपता की उक्ति से अनन्तर विचार किया जाता है कि जड़ रूपता का ज्ञान किससे होगा। जड़ रूप आत्म अंश का जड़ रूपसे ही अर्थात् अपने से ही तो ज्ञान हो नहीं सकेगा। अन्यथा घटादिक जड़ पदार्थ भी अपने को आप ही प्रकाशेंगे और ऐसा होने पर प्रकाशक यह कथन व्यर्थ होगा और यदि कहे कि जड़ अंश का चेतन अंश से ज्ञान होता है सो यह कहना भी आत्माश्रय दोष होने से संभव नहीं। ( विषय: ) जड़ अंश चेतन अंश का विषय है तो ( स: ) वह आत्मा ( स्वस्य विषय: स्वयं कथं स्यात् ) अपना विषय आप ही कैसे हो सकता है ? यदि ऐसा कहे कि दोनों अंशों के अंशी से अभेद होने पर भी उक्त दोनों अंशों का परस्पर भेद ही है इसलिये अंशों का विषय विषयी भाव बन सकता है, आत्माश्रय दोष नहीं आता, तो यह कहना भी संभव नहीं क्योंकि ( तौ अंशौ कौ ) चिद् रूप और अचिद् रूप अंश क्या हैं ( योग: ) और तिन अंशों का क्या संबंध है ? भाव यह है कि न तो उन अंशों को अवयव रूपता निरूपण कर सकते हैं और न अंशों का कोई संबंध निरूपण कर सकते हैं। अन्यथा आत्मा को सावयवादि प्रसंग प्राप्त होने से अनित्यता दोष प्राप्त होगा और अनित्यता से कृतनाश, अकृताभ्यगम आदि दोष प्राप्त

होते हैं ( तथा आत्मा ) वैसे ही आत्मा भी कौन है अर्थात् आत्मा भी अंशों से भिन्न है अथवा अभिन्न है, इत्यादि विकल्प परीक्षा से आत्मा का निरूपण करना भी कठिन है। ( च ) किंवा ( चेतनस्य जड़ता किमिति ) उस चेतन को जड़ रूपता भी किस लिये स्वीकार की गई है ( केन वा ) और किस कारण से वह जड़ता उत्पन्न होती है ? असंग में कारण का संबंध ही अवाच्य है। यदि कहो कि कर्तृता आदिकों की उत्पत्ति के अर्थ जड़ता का अंगीकार किया गया है तो, हे वादी ( तस्य कर्तृत्वं कीदृक् ) उस आत्मा की कर्तृता किस प्रकार की है ? वह कर्तृता वास्तव तो है नहीं, क्योंकि श्रुति निष्क्रियत्व का प्रतिपादन करती है। और 'चक्षुषा पश्यामि' इस प्रतीति से भी उस आत्मा की कर्तृता की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मा असंग होने से करण समूह को धारण ही नहीं कर सकता। ( सः ) निष्क्रिय रूप से जो श्रुति में प्रसिद्ध है ऐसा ( एषः ) यह आत्मा ( करण समुदायम् ) करण समुदाय को ( वा कथं धत्ते ) किस प्रकार धारण करता है ? असंग होने से किसी प्रकार से भी धारण नहीं कर सकता। इसलिये ( देवप्रिय पशुभिः ) देवताओं के पूजक होने से देवताओं के प्यारे और अविवेक होने से पशुओं के समान ( कर्मठैः ) कर्मका आडंबर रखने वाले कर्म मीमांसकोंसे ( इदं जीवस्य तत्त्वम् ) यह जीव का वास्तव स्वरूप ( दुर्निरूपम् ) निरूपण करने को कठिन है ॥३८॥

अब तीन श्लोकों से कणाद और गौतम के मत का निरसन करते हैं—

**जीवानां वैभवं चेत्तनु कृति करणादृष्ट साधारणत्वान् न स्याद्भोग व्यवस्था व्यतिकरमयते**

**येन सर्वैर्मनोभिः । नानात्म्यं चाप्रमाणं गदसि यदि तनूपाधिभिस्त्वं व्यवस्थां सिद्धेऽसिद्धेऽपि भेदे यत इह विफलाः कल्पनीया विशेषाः ॥३६॥**

जीवात्मा यदि व्यापक है तो शरीर, प्रयत्न, प्रारब्ध आदि सबको समान होने से भोग की व्यवस्था नहीं होगी क्योंकि मन का भी सब आत्माओं के साथ संबंध होता है। यदि देह रूप उपाधि से व्यवस्था हो सकेगी ऐसा कहेगा तो अनेक आत्मा ही अप्रमाण होंगे। इस कारण से आत्मा का नानात्व सिद्ध हो अथवा असिद्ध हो विशेष की कल्पना तो निष्फल ही है ॥३६॥

( जीवानां वैभवं चेत् ) यदि जीवात्माओं को व्यापकता है तो सर्व शरीरों में सब जीवों की अहंता और ममता अनिवार्य होने से भोग व्यवस्था नहीं होगी। अर्थात् यह भोग उसका और यह भोग इसका है और यह भोग मेरा है, इस प्रकार भोग की व्यवस्था नहीं हो सकेगी किंतु सब भोग सभी जीवों को प्राप्त होंगे। ( तनु कृति करणादृष्ट साधारणत्वात् ) यह शरीर, प्रयत्न, इन्द्रिय और अदृष्टरूप प्रारब्ध किसी एक आत्मा के हैं, इसमें कोई कारण न होने से शरीर, इन्द्रिय और प्रारब्ध ये सर्व जीवों में समान है अर्थात् जीवों को सर्व शरीर प्रयत्न आदिकों में ममता समान है। इसलिये जिस मन के साथ जिस आत्मा का संयोग है उस मन से उस आत्मा को ही भोग होता है इस प्रकार ( भोग व्यवस्था न वै स्यात् )

भोग की व्यवस्था नहीं हो सकेगी ( येन ) क्योंकि (मनोपि ) मन भी ( सर्वैः ) सर्वात्माओं के साथ ( व्यतिकरम् ) सांकर्यता को ( अयते ) प्राप्त होता है अर्थात् मिल जाता है। ( यदि तनूपाधिभिःव्यवस्थां त्वं गदसि ) यदि तू देहरूप उपाधियों से भोग की व्यवस्था हो सकेगी ऐसा कहे अर्थात् प्रत्येक आत्मा को जो जो भोग प्राप्त होता है उस प्रत्येक भोग में कुछ न कुछ विशेषता है इसलिये उस भोग का एक विशिष्ट देह ही कारण है इस प्रकार यदि भोग की व्यवस्था देह की उपाधि से कहेगा तो (नानात्म्यम्) अनेक आत्मता और आत्माका नानात्व ही (अप्रमाणम्) अप्रमाण हो जावेगा। अर्थ यह है कि एकात्मवाद में भी उक्त प्रकार से भोग व्यवस्था संभव होने से नाना आत्मा मानना ही व्यर्थ होगा। यदि कोई कहे कि आत्मा का नानात्व मानने में विशेष पदार्थ ही हेतु है तो उसके लिये कहना चाहिये कि एक विशेष ही यदि सबका भेदक है तो आकाश भी अनेक मानने पड़ेंगे और यदि बहुत विशेष भेदक हैं तो विशेषों के आश्रय भूत पदार्थों का भेद विशेषों से पहले सिद्ध है फिर विशेषों ने क्या किया ? इसलिये विशेषों की कल्पना निष्फल है, इस तात्पर्य से कहते हैं कि ( यतः ) जिस कारण से ( इह ) आत्मा के ( भेदे सिद्धे असिद्धे अपि वा कल्पनीयाः विशेषाः विफलाः ) भेद के सिद्ध हुए अथवा असिद्ध हुए विशेष पदार्थ का स्वीकार निष्फल है ॥३९॥

प्रहर्षिणी छन्द ।

**किंचात्मन्यनवयवेन संप्रयोगः संभाव्यो निरवयवस्य मानसस्य । न द्रव्यं निरवयवं न शाश्वतं**

**वा तद्धर्मो नच धिषणा यतो जडा स्यात् ॥४०॥**

निरवयव आत्मा में निरवयव मन का संयोग संभव नहीं। द्रव्य को निरवयवता और नित्यता भी नहीं हो सकती। चेतनरूप ज्ञान द्रव्य का धर्म नहीं है क्योंकि वह भी जड़ ही होगा ॥४०॥

( किंच ) तथा ( अनवयवे ) निरवयव ( आत्मनि ) आत्मा में ( निरवयवस्य मानसस्य संप्रयोगः न संभाव्यः ) निरवयव मन के संयोग की संभावना करना योग्य नहीं है। अर्थ यह है कि निरवयव आत्मा में ज्ञानादिक गुणों की उत्पत्ति के लिये निरवयव मन का संयोग संबंध, जो तुम तार्किकों ने माना है, उसका खंडन अणुकारणवाद के खंडन में किया गया है और निरवयव आत्माओं को व्यापक मानकर फिर उसमें ज्ञानादिक गुणों की उत्पत्ति के लिये मन का संयोग मानने से तुम्हारे मत में शरीर, स्त्री, धन, क्षेत्र, सुख, दुःख, ज्ञान आदि का संकर हो जाने से और अदृष्टों का भी संकर हो जाने से तुम्हारा मत व्यवस्थाशून्य होता है और संयोग व्याप्यवृत्ति होने से आत्मा और मन दोनों को सावयव भी मानना पड़ेगा और सावयवता मानने पर दोनों की अनित्यता भी माननी पड़ेगी। फिर कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष भी अपरिहार्य होंगे। ( द्रव्यं न निरवयवं नवा शाश्वतम् ) वैसे ही द्रव्य की निरवयवता भी नहीं माननी चाहिये और नित्यता भी नहीं माननी चाहिये, क्योंकि जो द्रव्य है वह उत्पत्ति वाला ही होता है और जो उत्पत्ति वाला होता है वह सावयव तथा अनित्य होता है, यह सर्व घटादिक द्रव्य में प्रत्यक्ष है। आकाशादिक

द्रव्योंको मायाका अवयव लिखा है इसलिये ही शास्त्रमें आकाश की उत्पत्ति तथा नाश लिखा है और आत्मा से भिन्न सर्व अनात्म पदार्थ अनित्य है यह भी लिखा है। ब्रह्म और आत्मा एक ही है, इसलिये ब्रह्म में अनात्मता की शंका अप्राप्त है ( च ) वैसे ही ( धिषणा ) चैतन्यरूप ज्ञान ( न तद्धर्मः ) द्रव्य का धर्म नहीं है ( यतः ) क्योंकि वह ज्ञान यदि जड़ द्रव्य का धर्म होगा तो ( जडा स्यात् ) वह ज्ञान भी जड़ ही होगा। भावार्थ यह है कि विरुद्ध स्वभाव वालों का धर्मधर्मी भाव नहीं देखा, क्योंकि जड़त्वधर्म वाले घट पट आदिक द्रव्य जड़त्व धर्मक गुण वाले ही देखे हैं। इस कारण ज्ञान चेतन है और आत्मारूप गुणी द्रव्य जड़ है, यह तुम्हारा निरर्थक वाणी विलास है ॥४०॥

**अज्ञानं स्वमथ सुखं सुषुप्तबुद्धं बुद्धस्त्वं स्मरसि कथंस्वतो जडात्मा। विज्ञानान्ययमयमित्यनेक संख्यान्यद्राक्षं चिरमिति केन वेत्स्यसाक्षी ॥४१॥**

स्वस्वरूप से जड़ आत्मा सुसुप्ति के अज्ञान और सुख का कैसे स्मरण करता है? असाक्षी असंख्य विज्ञानधारा को किस ज्ञान से जानता है? क्योंकि बहुत काल तक मैं देखता हूं ऐसा कहता है ॥४१॥

हे तार्किक! ( स्वतः ) स्वयं से तो ( जडात्मा त्वम् ) तू जड़ स्वरूप है फिर ( सुषुप्तबुद्धं अज्ञानं स्वम् ) सुषुप्ति में जड़ होने से अननभूत अज्ञान के स्वरूप को तथा ( अथ ) सुषुप्तिकालीन

(सुखम्) सुख को (बुद्धः) सुषुप्ति में जागकर (कथं स्मरसि) कैसे स्मरण करता है? अर्थात् 'सुखमहमस्वाप्सं न किंचिद्वेदिषम्' मैं सुख से सोया था कुछ भी नहीं जानता था, इस प्रकार सुषुप्ति में जाग कर अज्ञान का, अपना तथा तत्कालीन सुख का स्मरण तुझको नहीं बन सकता, क्योंकि तेरा आत्मा जड़ होने से उसने सुषुप्ति में कुछ भी अनुभव नहीं किया है और स्मृति अनुभूत की ही होती है। (असाक्षी) जड़ होने से ही इन्द्रिय आदिकों के बिना देखने के लिये जो असमर्थ हैं ऐसा तू (अयं अयं) यह घट है यह घट है (इति अनेक संख्यानि विज्ञानानि) इस प्रकार के विज्ञान (केन) किस से (वेत्सि) तू जानता है? क्योंकि (चिरं अद्राक्षम् इति) बहुत काल तक इस घट को मैं देखता था, इस प्रकार तू कहता है। भावार्थ यह है—

क्रम से उत्पन्न और विनाश हुए ज्ञानों का समुदाय असंभव होने से उन उत्पन्न और नष्ट ज्ञानों का फिर ज्ञान होना असंभव है और तुम्हारा अनुव्यवसाय रूप ज्ञान भी आत्माश्रय अन्योऽन्याश्रय आदि दोषों से दूषित है। इसलिये सुषुप्ति के अज्ञान और धारात्मक ज्ञानादिकों के साक्षी रूप, नित्य और चिद्रूप आत्मा अवश्य ही मानना पड़ेगा ॥४१॥

**इच्छादिकोदयविनाश संततीनामक्षाणामसु मनसां धियश्च तस्मात् । द्रष्टाऽन्योऽस्त्यविपरिलुप्तदृक् सततं यो निःसंगो विहरति यः पुरत्रयेऽपि ॥४२**

इस प्रकार द्वैत मतों का निरास करके अब श्रुति के तात्पर्य वाले अद्वैतात्म स्वरूप का बोध कराते हैं—

इच्छादिक की उत्पत्ति और विनाश की धारा का, इन्द्रियों का, प्राणका, मनका और बुद्धि वृत्तिका अविनाशी ज्ञान स्वरूप द्रष्टा उनसे भिन्न है और वह तीनों शरीरों में असंग विचरता है ॥४२॥

( तस्मात् ) जड़ अनात्मा होने से आत्मा उन पदार्थों से भिन्न है तथा ( इच्छादेः उदयविनाश संततीनाम् ) इच्छा, क्रोध, लोभ, प्रेम, भय आदि की उत्पत्ति और विनाश धाराओं का, ( अक्षाणाम् ) इन्द्रियों का, ( असुमनसाम् ) प्राणों का, मन का ( च ) तथा ( धियः ) बुद्धि वृत्तिका ( अपरिलुप्तदृक् ) अविनाशी ज्ञान स्वरूप ( द्रष्टा ) साक्षी आत्मा ( अन्यः ) उन इच्छादि से भिन्न ( अस्ति ) है। वह आत्मा कैसा है ? ( यः ) जो श्रुति स्मृति प्रसिद्ध अपना स्वरूप भूत आत्मा ( पुरत्रये ) तीनों शरीरों में अर्थात् तीनों ही अवस्थाओं में ( निःसंगः ) असंग, उदासीन और साक्षीरूप ( विहरति ) विचरता है ॥४२॥

श्रुतियों में द्रष्टा श्रोता मंता आदिक प्रयोगों से आत्मा ज्ञान वाला प्रतीत होता है, जड़ नहीं, परंतु वह ज्ञान आत्मा का गुण नहीं है, किन्तु ज्ञान स्वरूप ही आत्मा है यह अर्थ अब दिखाते हैं—

**संशांते रवि शशि वह्नि वाक् प्रकाशे निर्वाणे करणगणे निरस्त संगः। स्वज्योतिः प्रकटित वासनामयार्थश्चिद्धातुः श्रुतिभिरुदीरितोऽन्तरात्मा ॥४३॥**

सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वाणी रूप प्रकाश की निवृत्ति होने पर और इन्द्रियों के शान्त होने पर भी श्रुतियों ने स्वप्न में सर्वान्तर आत्मा का कथन किया है। वह संग रहित स्वयं प्रकाश है, वासना के अर्थ स्वप्न को प्रकट करने वाला है और चैतन्यस्वरूप है ॥४३॥

( रविशशिवह्नि वाक् प्रकाशे संशान्ते ) सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि और वाणी रूप ज्योति के प्रकाश के सम्यक् निवृत्त होने पर तथा ( करण गणे निर्वाणे ) इन्द्रिय समुदाय के शान्त होने पर अर्थात् निवृत्त होने पर स्वप्न में ( श्रुतिभिः ) श्रुतिओं ने ( अन्तरात्मा उदीरितः ) सर्वान्तर आत्मा का कथन किया है। वह आत्मा कैसा है ? ( निरस्त संगः ) सुप्त शरीर, इन्द्रिय आदि के साथ तादात्म्य से रहित है तथा ( स्वज्योतिः ) स्वयं प्रकाश है अर्थात् स्वप्न में भौतिक ज्योतियों के प्रकाश के विना स्वरूप भूत प्रकाश में ही आत्मा सर्व व्यवहार करता है, ( प्रकटित वासनामयार्थः ) वह इन्द्रजाल के सदृश मन के व्यक्त भाव को प्राप्त हुए परिणाम रूप मिथ्या देह इन्द्रिय और विषय रूप अर्थ-वाला तथा ( चिद्धातुः ) चेतन स्वरूप होने से ही [ धीयते आरोप्यते सर्वमस्मिन्, इस व्युत्पत्ति से सर्व मिथ्या का अधिष्ठान है ] द्रव्यादि रूप वह अन्य किसी धातु रूप नहीं है ॥४३॥

जाग्रत अवस्था में आत्मा का विवेक दिखाते हैं—

**बाह्यार्थान् करणगणेन तं च बुद्ध्या बुद्धिं यः**
**प्रथयति संततं स्वभासा। आत्मा सावनधिगतः**
**पराग्भिः रेभिर्वि ज्ञेयस्तनु भवनान्तर प्रदीपः ४४॥**

जो इन्द्रिय समुदाय से बाहर के विषयों को प्रकाशता है, उन इन्द्रियों को बुद्धिवृत्ति से प्रकाशता है, बुद्धि को आभास से हमेशा प्रकाशता है और जो अपने से भिन्न बाहर भीतर इन्द्रियों से नहीं जाना जाता तथा जो शरीर के मध्य में प्रदीप के सदृश साक्षी है वह आत्मा जानने के योग्य है ॥४४॥

( असौ आत्मा विज्ञेयः ) इस आत्मा को जानना चाहिये, ( यः करण गणेन ) जो आत्मा इन्द्रिय समुदाय से ( बाह्यार्थान् ) शरीर के बहिर होने वाले पदार्थों को अर्थात् जाग्रत के पदार्थों को ( प्रथयति ) प्रकाश करता है ( च ) और ( तम् ) उस इन्द्रिय गणको ( बुद्धया ) अन्तःकरण उपाधि से अर्थात् अन्तः-करण की बुद्धि वृत्ति से प्रकाश करता है और ( बुद्धिम् ) उस बुद्धि को भी स्वभास स्वरूप चैतन्य से ( संततम् ) निरन्तर ही प्रकाश करता है और जो आत्मा इस प्रकार सबका प्रकाशक हुआ भी आप ( पराग्भिः एभिः ) स्वअधिष्ठान रूप चैतन्य से भिन्न बाह्य विषय को गमन करने वाली बाह्यांतर इन्द्रियों से ( अनधिगतः ) नहीं जाना जाता, ( तनु भवनांतर प्रदीपः ) वह शरीर रूप गृह के मध्य स्थित प्रदीप के सदृश साक्षी रूप से स्थित है।

शंका—जब आत्मा स्वयं प्रकाश स्वरूप ही है तो वह विज्ञेय कैसे हो सकता है ? क्योंकि जड़ पदार्थ ही विज्ञान का विषय होता है।

समाधान—वह आत्मा स्वयं प्रकाश होने से भिन्नता से अविज्ञेय है, इस प्रकार जानना ही आत्मा का ज्ञान है ॥४४॥

पूर्व दो श्लोकों से आत्मा की चिद् रूपता कही, अब आत्मा की आनन्द रूपता कहते हैं—

**प्रेयान्यः सदनधनात्मज प्रियादेर्यत् प्रेम्णा प्रियमिति मन्यते पराचः। पारार्थ्यावधि रवधीरितैतरार्थ्यो विज्ञेयः सखलु सुखाब्धिरन्तरात्मा ॥४५**

आत्मा गृह, धन, स्त्री, पुत्र आदि से भी अतिशय प्रिय है। बाहर के पदार्थों को प्रिय जानता है वह आत्मा के अर्थ है। कोई पदार्थ किसी अर्थ है कोई किसी अर्थ इस प्रकार सर्व परार्थ है। परन्तु आत्मा में परार्थत्व की अवधि है वह सुखस्वरूप आन्तर आत्मा जानने के योग्य है ॥४५॥

( यः सदन धनात्मज प्रियादेः प्रेयान् ) जो सर्व उपनिषत् शास्त्र प्रसिद्ध आत्मा है वह गृह, धन, पुत्र, स्त्री आदि सबसे अतिशय प्रिय है, क्योंकि गृह, धन पुत्रादिकों से पुरुष अपनी ही रक्षा करता है। ( यत्प्रेम्णा ) तथा जिस आत्मा के प्रेम से ही ( पराचः ) प्राप्त हुए धन, पुत्र, स्त्री, देह आदिक बाह्य पदार्थों को ( प्रियमिति मन्यते ) प्रिय रूपसे जानता है, क्योंकि अपने प्रतिकूल सर्व ही धन, पुत्र, स्त्री, देह आदिक पदार्थों में द्वेष ही देखा गया है, इसलिये वह आत्मा सबसे ही अतिशय प्रिय है। ( पारार्थ्यावधिः ) कोई पदार्थ किसके लिये होता है, तो कोई पदार्थ किसके लिये होता है, इस प्रकार सब वस्तु परार्थत्व से युक्त है। परन्तु आत्मा के लिये यानी अपने लिये सब पदार्थ अंगीकार

किये जाते हैं। इसलिये परार्थता की अवधि आत्मा ही है। ( अवधीरि तैतरार्थ्यः ) आत्मा में परार्थता निरस्त है अर्थात् आत्मा के अर्थ सर्व हैं परन्तु आत्मा किसीके भी अर्थ नहीं है। इसलिये ( स अंतरात्मा ) मैं हूँ, मैं हूँ इस प्रकार सदा प्रसिद्ध सर्वके अन्तर सर्वका अधिष्ठान आत्मा ( खलु ) निश्चय ही ( सुखाब्धिः ) सुख समुद्र है अर्थात् अपरिच्छिन्न सुख स्वरूप है, ( विज्ञेयः ) इस प्रकार जानने योग्य है ॥४५॥

अब असंग सच्चिदानन्द आत्मा को कर्तृत्वादिक अध्यास से है, इस अर्थ को बताते हैं—

**शुद्धोऽसावह मिदमित्युपाधिधर्मानध्यासादभि-**
**मनुते परस्परेण । वृद्ध्यादीनिव सलिल प्रभेद**
**धर्मान् व्रध्नेम्बुप्रतिफलिते मृषैव मोहात् ॥४६॥**

जैसे चंचलता आदि जल के विभिन्न धर्मों को अविवेक से पुरुष सूर्य के प्रतिबिंब में मानता है ऐसे शुद्ध आत्मा उपाधि धर्मों को मिथ्या ही अपने मोह वश अन्योन्य तादात्म्याध्यास से अंगीकार करता है ॥४६॥

( शुद्धः असौ ) यह शुद्ध आत्मा ( उपाधि धर्मान् ) देह इन्द्रिय अन्तःकरण रूप उपाधि के कर्तृत्व आदिक धर्मों को ( मृषैव अभिमनुते ) मिथ्या ही अपने में अंगीकार करता है। ( मोहात ) अपने स्वरूप के तथा उपाधि के स्वरूप के अज्ञान से अर्थात् अविवेकसे ( परस्परेण अध्यासात् ) अन्योऽन्य तादात्म्य अध्यास से अर्थात् आत्मा और उपाधि के परस्पर तादात्म्य

आरोप से उपाधि के धर्मों को आत्मा अपने में मानता है। ( सलिल प्रभेद धर्मान वृद्ध्यादीनिव ) जैसे वृद्धिह्रास चंचलत्वादि जलके विभिन्न धर्मों को ( अंबुप्रति फलिते ब्रध्ने ) जलमें प्रतिबिंबित सूर्य में अविवेक से पुरुष मानता है ॥४६॥

अब अध्यास के कारण भूत अज्ञान की सिद्धि करते हैं—

**अज्ञोऽस्मीत्यनुभनादनाद्यबोधश्चिन्निष्ठश्चिति-विषयस्तमो यथेन्दुम्। प्रच्छाद्य स्फुरति चितं चितैव भूयो विक्षिप्य भ्रमयति हंत दुर्निरूपः ॥४७**

मैं अज्ञानी हूं ऐसा अज्ञान शुद्ध चैतन्य के आश्रय में है और शुद्ध चैतन्य को ही विषय करता है। वह अजन्मा अज्ञान चैतन्य को ढांपकर चैतन्य से ही प्रसिद्ध होता है जैसे चंद्र को राहु ढांपकर स्वयं प्रसिद्ध होता है। फिर वह मिथ्या ही जगत् को उत्पन्न करता है और भ्रम में डालता है। बड़ा खेद है! वह अनिर्वचनीय है ॥४७॥

( अज्ञोऽस्मि इति अनुभवनात् ) मैं अज्ञानी हूँ, मैं कुछ नहीं जानता, इस प्रकार के अनुभव प्रमाण से जो अज्ञान सिद्ध है, वह अज्ञान ( चिन्निष्ठः ) शुद्ध चेतन आत्मा के आश्रय है ( चितिविषयः ) और शुद्ध चेतन को ही विषय करता है, इस पक्षको ही अज्ञान स्वाश्रय और स्वविषय गृह मध्यस्थ अंधेरे के दृष्टांत से विद्वान् वेदान्ताचार्यों ने कहा है। ( अनाद्यबोधः ) यह अनादि अर्थात् जन्म वा कारण शून्य अज्ञान ( चितंप्रच्छाद्य ) चैतन्य को आच्छादन करके ( चितैव स्फुरति ) फिर उस चैतन्य

से ही स्वप्रसिद्धि को प्राप्त होता है। (यथातमः इंदुम्) जैसे राहु चंद्रमा को ढांप करके फिर उस चंद्रमा से ही प्रसिद्ध होता है। अर्थात् जैसे राहु चन्द्रमा को आच्छादन करता है फिर सो राहु चन्द्र करके तम रूपसे देखा जाता है, वैसे ही अज्ञान भी चेतनको आच्छादन करता है और फिर उस चेतन से ही अपने को प्रसिद्ध करता है। (भूयः) चेतन के आवरण के अनन्तर पुनः सो अज्ञान (विक्षिप्य) मिथ्या ही जगत् को उत्पन्न करके (भ्रमयति) चेतन को, यह मैं हूँ, यह मेरे हैं, इत्यादि भ्रांति से युक्तकर देता है। (हन्त) बड़ा खेद है (दुर्निरूपः) ऐसा होने पर भी वह अज्ञान चेतन में अध्यस्त होने से स्वप्नकी तरह अनिर्वचनीय है ॥४७॥

यदि कोई कहे कि अपनी सिद्धि का कोई स्वयं ही हेतु नहीं बन सकता, इसलिये सब अध्यासों के हेतु रूप अज्ञान के अध्यासमें अन्य किसी हेतुकी सिद्धि न होनेसे स्वयं अज्ञान ही की सिद्धि नहीं होगी, तो उसका समाधान आगेके श्लोकोंमें कहते हैं-

**चिद्भाने चितिरिव या भिदेव भेदं निर्वाहे निज-परयोः स्वतः समर्थः। संभाव्येतरघटनापटी-यसो सा संमोहं जनयति विभ्रमेण माया ॥४८॥**

जैसे सर्व प्रकाशक चेतनरूप ज्ञान के भेद व्यवहारमें हेतु भेद है तैसे ही माया अपने और अपने कार्य के निर्वाह में स्वयं ही समर्थ है, वह माया भ्रांति करके मोह उत्पन्न करती है, हेतु रहित असंभवित अर्थकी घटना में चतुर है ॥४८॥

पूर्व अनादि, अनिर्वचनीय और साक्षात् ज्ञानैक निवर्त्य अज्ञान का लक्षण बतलाया। यह अज्ञान चेतन में अध्यस्त है,

यह वेदान्ताचार्यों का सिद्धांत है। अब इस अज्ञान में यह शंका प्राप्त होती है कि यदि वह अज्ञान अनेक अध्यास में आपही कारण है तो आत्माश्रय दोष स्पष्ट प्रतीत होता है, यदि अन्य अज्ञान उसका कारण हो तो वह भी अध्यस्त ही मानना होगा इसलिये वह दूसरा अज्ञान भी यदि अपने अध्यास के लिये अपनी ही अपेक्षा करेगा तो आत्माश्रय दोष ज्योंका त्यों बना रहा, यदि पहले अज्ञान की अपेक्षा करेगा तो अन्योऽआश्रय दोष प्राप्त होगा और यदि किसी तीसरे अज्ञान की अपेक्षा करेगा तो फिर भी आत्माश्रय, अन्योऽन्याश्रय और पुनः प्रथम अज्ञान की अपेक्षा से चक्र का दोष प्राप्त होगा। फिर भी वह और चतुर्थ अज्ञान की अपेक्षा करेगा तो पंचम षष्ट सप्तम आदिकों की आगे आगे अपेक्षा शांत न होने से अनवस्था दोष प्राप्त होगा। जहां जाकर आगे अज्ञानान्तर की अपेक्षा का अभाव होता है उस अज्ञान को अध्यास का हेतु बतलाओगे तो प्राग् लोप और विनिगमन विरह ये दोष प्राप्त होंगे इसलिये अज्ञान को भी अध्यस्त बतलाना अयथार्थ है। अब इस शंकाके जाति रूप समाधान को प्रवृत्त किया जाता है।

( चिद्भासे चितिः इव ) जैसे अन्य मतों में सबका प्रकाशक चेतन रूप ज्ञान चिद्रूप स्वभासन में भी भासकांतर की अपेक्षा के बिना आपही समर्थ है ( भेदे भिदा इव ) और जैसे तार्किकों के मत में घट पट आदिकों में भेद व्यवहार का हेतु भेद है सो भेद घट पट आदिकों के परस्पर भेद व्यवहारमें तथा अपने भेद व्यवहारमें भेदान्तर की अपेक्षा न करता हुआ ही समर्थ है, वैसे ही ( या माया निज परयो निर्वाहे स्वतः समर्था ) जो माया अर्थात अविद्या अज्ञान अपने तथा

अपने कार्य का अध्यास सिद्धि करने में स्वतः ही अर्थात् अज्ञानान्तर की अपेक्षा के विना आपही समर्थ है। भाव यह है जैसे प्रभाकरों के मनमें ज्ञान के स्वपर प्रकाशन में कोई दोष नहीं माना है और जैसे नैयायिकों के मतमें भेद के स्व और परों के भेद व्यवहार में कोई दोष नहीं माना है, वैसे ही वेदान्त में भी अज्ञान स्व की और परकी अध्यास रूपता में आपही कारण है इसमें भी कोई दोष नहीं है और सदुत्तर तो यह है कि जिसकी ज्ञान से निवृत्ति अनुभव में आ जावे उसके अध्यास होने में शंका ही क्या है ?

( सा माया ) स्व और स्वकाय के अध्यासरूपता का साधक जो अज्ञान या माया है वह माया ( विभ्रमेण ) भ्रमरूप निज विलास से ( संमोहम् ) जीवत्वादिक महा भ्रांति को ( जनयति ) उत्पन्न करती है। ( संभाव्येतर घटना पटीयसी ) वह असंभावित अर्थ की घटना करने में अर्थात् संभावना करने में चतुर है अर्थात् अति समर्थ है। माया को अध्यास रूप कहना विरुद्ध नहीं है, क्योंकि या यानी प्राप्त हुई भी जो मा अर्थात् न हो सो माया कही जाती है अर्थात् मिथ्या का नाम ही माया है। वह अघटित घटना पटीयसी है ॥४८॥

अब अध्यास का लक्षण और अध्यास के भेद बताते हैं—

**अध्यासोऽनधिगतवस्तुनि ह्यतस्मिंस्तद्बुद्धिः स्फुट मनुभूयते प्रतीचि। अज्ञोऽहं गलित बलो नरो दरिद्रो जीवेयुर्मम तनयाः कथं वतेति ॥४९॥**

स्पष्ट न प्राप्त हुई वस्तु में जो आरोप बुद्धि है वह अध्यास है। इसका प्रत्यगात्मा में स्पष्ट अनुभव होता है

जैसे मैं अज्ञानी हूं, क्षीणबल हूं, मनुष्य हूं, दरिद्री हूं। हाय ! यह मेरे पुत्र कैसे जीयेंगे ? इत्यादि ॥४९॥

'परत्रावभासः अध्यासः' यह अध्यास के लक्षण का संक्षेप है।

शंका—शारीरिक भाष्य में भगवान् शंकराचार्य ने तो ( स्मृतिरूपः परत्र पूर्व दृष्टावभासः ) यह अध्यास लक्षण का संक्षेप दिखाया है।

समाधान—यह तुम्हारा कहना सत्य है, परन्तु भाष्य लक्षण में स्मृतिरूप और पूर्व दृष्ट ये दोनों पद उस अध्यास लक्षण के उपपादन के लिये हैं। वहां कल्पित रजतादि पदार्थ अवभास शब्द का अर्थ है और उस अवभास के अयोग्य अधिकरण परत्र शब्द का अर्थ है। आरोप्य के अत्यन्ताभावस्त्वता ही अधिकरण की अयोग्यता है और यहां पद्य में तो ( अनधिगत वस्तुनि अतस्मिन् प्रतीचि ) यह परत्र पद का अर्थ है और तद्बुद्धि यह अवभास पद का अर्थ है। ( अतस्मिंस्तद्बुद्धिरध्यासः ) यह ज्ञानाध्यास का लक्षण है, क्योंकि अवभास पद व्युत्पत्ति के भेद से अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास परक हैं। इसलिये किसी प्रकार का यहां विरोध आपादन नहीं हो सकता। श्लोकार्थ यह है—

( अनधिगत वस्तुनि ) सामान्यतया भासमान और विशेषतया न भासमान ( अतस्मिन् ) आरोप्य से भिन्न पदार्थ में ( तद् बुद्धिः ) जो आरोप्य बुद्धि है ( अध्यासः ) वह अध्यास है। ( हि ) यह हि शब्द भाष्यादिकों की प्रसिद्धि का ज्ञापक है। अब अध्यास के लक्षण की भूमी को दिखलाते हैं ( अध्यासः ) यह अध्यास ( प्रतीचि स्फुट प्रतीयते ) अहं अहं इस प्रकार

भासमान साक्षीरूप प्रत्यगात्मा में साक्षात् प्रतीत होता है अर्थात् अहंता ममता के भेद से प्रत्यगात्मा में यह अध्यास दो प्रकार का प्रतीत होता है। जैसे ( अहं अज्ञः ) मैं अज्ञानी हूँ ( गलितबलः ) मैं क्षीण बल वाला हूँ. ( नरः ) मैं मनुष्य हूँ, ( दरिद्रः ) मैं धनहीन हूं यह एक तथा दूसरा ( बत ) बड़ा खेद है ( मम तनयाः ) यह मेरे पुत्र ( कथं जीवेयुः ) किस तरह जीवन निर्वाह करेंगे। इस अध्यास के अवांतर भेद बहुत हैं ॥४६॥

अब आत्मा में अनात्म धर्मों के स्वरूपाध्यास को और अनात्मा में आत्मधर्मों के तादात्म्य संसर्गाध्यास को दिखाते हैं—

स्रग्धरा छन्द।

**शुद्धो हृष्टः स्थिरोहं बुध इति च तनावात्म धर्मान्युवाहं स्थूलो गौरोऽभिरूपः पटुरिति च निजे देह धर्मान् मिमीते। अन्योऽन्याध्यस्त सत्यानृतवलित वपुर्लोहपिंड प्रविष्टो वह्निः कूटा-भिघातानिव विविधभवानर्थजातं प्रपन्नः ॥५०॥**

मैं शुद्ध हूं, सुखी हूं, चेतन हूं, इस प्रकार आत्मा के धर्मों को शरीर में मानता है और मैं युवा हूं. स्थूल हूं, गोरा हूं, चतुर हूं इस प्रकार के देह के धर्मों को आत्मा में मानता है, जैसे लोह पिंड में तादात्म को प्राप्त हुआ अग्नि लोह पिंड में ही ताड़ना को प्राप्त होता है तैसे जीव

अन्योन्याध्यास से मिश्रित सत्य मिथ्या के कल्पित अध्यास से अनेक प्रकारके सांसारिक अनर्थों को प्राप्त होता है ॥५०॥

(तनौ) शरीर में (अहं शुद्धः) मैं निर्दोष हूं (हृष्टः) मैं प्रसन्न हूँ अर्थात् सुखी हूं (स्थिरः) मैं अचल हूँ (बुधः) चेतन हूं (इति) इस प्रकार (आत्मधर्मान्) शुद्धत्वादि उक्त आत्म धर्मों का (मिमीते) अध्यास करता है। वैसे ही (निजे) निज स्वरूप में अर्थात् स्वात्मा में (अहं युवा स्थूलः गौरः अभिरूपः पटुः) मैं नवयुवक हूं, मैं बड़ा मोटा हूं, मैं गौर रंग वाला हूं, मैं बड़ा सुन्दर रूप वाला हूँ तथा मैं बड़ा शीघ्रकारी चतुर हूँ, (इति) इस प्रकार (देहधर्मान्) नवयुवकत्वादिक देह के धर्मों का अध्यास करता है। इस प्रकार परस्पर तादात्म्य रूप से (अन्योऽन्याध्यस्तसत्यानृत वलित वपुः) परस्पर कल्पित सत्यानृतों से मिश्रित स्वरूप हुआ यह जीव (विविध भवानर्थ जातं प्रयत्नः) नाना प्रकार के संसार के अनर्थ समुदाय को प्राप्त हुआ है (लोह पिंड प्रविष्टः वह्निः कूटाभिघातान् इव) जैसे लोह के पिंड में तादात्म्य को प्राप्त हुआ अग्नि कूट में अर्थात् लोहपिंड में ही अन्य लोह से अर्थात् लोह के घन से ताड़नाओं को प्राप्त होता है। भाव यह है, जैसे अग्नि अविवेक से ताड़ित हुआ सा प्रतीत होता है तैसे ही देह में जीव भी अविवेक से अनर्थ को प्राप्त हुए के सदृश प्रतीत होता है, परमार्थ से नहीं ॥५०॥

आरोप्य के सदृश रूपवान् अधिष्ठान ही में अध्यास देखा जाता है इसलिये आत्मा में अध्यास असंभव है ऐसी शंका को लेकर कहते हैं—

दृष्टः प्रत्यक् पराचोर्विषयिविषययोर्भास्तमोवद्विरोधेऽप्यध्यासोऽहं ममेतिस्फुट मिति सुधियां नास्त्यसंभावनात्र । स्वप्नादौ गत्यभावात् गगन मलिनिमाध्यास दृष्टेर्बुधानां पश्वादीनां च साम्याद् व्यवहृतिरखिलाध्यास मूलेति सिद्धम् ॥५१॥

प्रकाश अंधकार के समान विषय, विषयी तथा अपने परे का विरोध है तो भी मैं और मेरे का अध्यास स्पष्ट देखा जाता है। इसमें विद्वानों को संशय नहीं है। स्वप्नादि और आकाशमें मलिनताका अध्यास देखनेसे तथा प्रकृति आदि व्यवहार में बुद्धिवान् और पशुओंकी समानता ही है, इसलिये सब व्यवहार अध्यास युक्त ही है यह सिद्ध होता है ॥५१

शंका—पूर्व श्लोक में जो अध्यास दिखलाया वह अध्यास नहीं बन सकता, क्योंकि अध्यास की सामग्री का ही अभाव है। प्रमाता गत दोष, प्रमाण गत दोष, प्रमेयगत दोष, सत्य वस्तु के ज्ञान जन्य संस्कार, अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान और विशेष रूपसे अज्ञान, इतनी अध्यास की सामग्री है। इनमें एकभी न हो तो अध्यास नहीं होता, यह बाह्य, रज्जु, सर्प, शुक्तिरजत आदिक अध्यासों में देखा है। आत्मा का और दृश्य प्रपंच का तम प्रकाश की तरह विरोध है। स्वल्प भी सादृश नहीं है, प्रपंच तुम्हारे

मनमें मिथ्या है इसलिये सत्य वस्तुके ज्ञान जन्य संस्कारों का भी अभाव है। आत्मा निर्विशेष है इसलिये सामान्य रूपसे अधिष्ठान का ज्ञान और विशेष रूपसे उसका अज्ञान दोनों असंभव है। प्रमाता तथा नेत्रादि प्रमाण स्वयं ही अध्यास रूप हैं, इसलिये प्रमाता प्रमाण गत दोषों का भी अभाव है। इस प्रकार अध्यास की सामग्री का अभाव होने से अध्यास भी असंभव है, इस प्रकार की शंकाको ले करके अब समाधान करते हैं—

समाधान—यहां पूर्व पूर्व अध्यस्त प्रपंच के ज्ञान जन्य संस्कार विद्यमान हैं, क्योंकि सत्य वस्तुके ज्ञानजन्य संस्कारों का नियम नहीं है। वस्तुके ज्ञानजन्य संस्कार चाहिये वस्तु सत्य हो वा मिथ्या हो इस कथा का यहां आदर नहीं है। इन्द्रजालिक प्रदर्शित मिथ्या खजूर के वृक्षमें छुहारे के वृक्ष का भ्रम होजाता है, विरक्त पुरुष को सीपी में चांदी का अध्यास होजाता है, इसलिये प्रमाता गत दोष भी अध्यास का कारण नहीं। शुद्ध नेत्र वालों को भी आकाश में नीलिमा आदिकों का अध्यास होता है, अतः प्रमाण गत दोष भी अध्यास का नियत कारण नहीं है। मिस्री में कटुता का अध्यास देखा गया है अतः प्रमेयगत दोष भी अध्यास का कारण नहीं है। परमार्थ से आकाश में नीलिमा आदिक अध्यास में सर्व दोषों का अभाव है, तैसे ही यहां प्रकृत में भी जानो। आत्मा में सामान्य विशेष भाव भी मायिक है इसलिये सत्‌रूप सामान्यरूप का ज्ञान और सच्चिदानन्द अखंड नित्य मुक्त असंग आदि विशेष रूप का अज्ञान तो बन सकता है, इसलिये विद्वानों को अध्यास में असंभावना नहीं हो सकती। इसी प्रकार से आगे समाधान दिखलाया जाता है—

श्लोक का अर्थ यह है—( भास्तमोवत् ) प्रकाश अन्धकारके सदृश ( विषयि विषययोः प्रत्यक् पराचोः ) ज्ञान ज्ञेय का आंतर

बाह्यरूप से ( विरोधेपि ) विरोध होने पर भी ( अहं मम इत्यध्यासः ) यह मैं हूँ, ये मेरे हैं, इस प्रकार का अध्यास ( स्फुटम् ) जैसा है तैसा ही स्पष्ट सबने ( दृष्टः ) देखा है। अर्थात् यद्यपि आत्मा चेतन ज्ञान रूप है, दृश्य जड़ विषय है और आत्मा सबके अन्तर है और दृश्य बाह्य है, इस प्रकार से प्रकाश तम की तरह आत्मा का और दृश्य प्रपंच देहआदिकों का परस्पर विरोध है, तथापि तहां सभी लोगों ने अहंता ममता रूप अध्यास अनुभव किया है ( इति ) इस कारण से विरोध की प्रतीति और सादृश्यता की अप्रतीति में भी ( अत्र ) इस उक्त अध्यास में ( सुधियाम् ) विद्वानोंको ( असंभावना नास्ति ) संशय नहीं होता, क्योंकि ( गत्याभावात् ) और कोई गति ही नहीं है। ( स्वप्नादौ ) विसदृश आत्मा में स्वप्न का और स्फटिक में लाली का अध्यास देखा गया है। वैसे ही ( गगने मलिनिमाध्यास दर्शनात् ) आकाश में रूप के न होने पर नीलिमा आदिकों का अध्यास देखा गया है। यहां प्रमाता प्रमाण प्रमेयगत आदिक सर्व दोषों के अभाव होने पर नीरूप आकाश में नीलिमा आदिकों के अध्यास का सबको अनुभव होता है। इसी प्रकार प्रकृत आत्मा में किसी दोष के न होने पर भी अहंता ममता रूप अध्यास संभव है। यहां विचार कर देखा जाय तो सर्व दोषों का कारणरूप अज्ञान ही परम दोष है उस अज्ञान के होते हुए अध्यास की असंभावना कैसे हो सकती है ? क्योंकि अघटित घटनापटुता अज्ञान में स्पष्ट कह आये हैं। प्रवृत्ति निवृत्ति आदि व्यवहार में ( बुधानाम् ) विवेकी ज्ञानियों की और शास्त्रीय पंडितों की तथा ( पश्वादीनां च सा-म्यात् ) पशु आदिकों की तुल्यता ही है इसलिये ( अखिला )

सर्व लौकिक और वैदिक (व्यवहृतिः) व्यवहार (अध्यासमूला) अध्यासमूलक ही है (इतिसिद्धम्) यह सिद्ध हुआ ॥५१॥

अब वैराग्य की प्राप्ति के लिये अध्यास जनित अनर्थ परंपरा को ढाई श्लोकों से कहते हैं—

**धर्माद् देवत्वमेति व्रजति पुनरधः पातकैः स्थावरादीन् देहान् प्राप्य प्रणश्यन् क्वचिदपि लभते मानुषत्वं च ताभ्याम्। कर्मज्ञानोभये न व्रजति विधिपदं मुच्यते कोपि तस्मिन् रागी प्रत्येति भूयो जनिमिति विषमं बंभ्रमीतीह लोकः ॥५२॥**

मनुष्य धर्म से देवभाव को प्राप्त होता है, पाप से नरक को जाता है, स्थावरादि देह को प्राप्त होकर नाश को प्राप्त होता है। क्वचित कोई पुण्य पाप के उदय से मनुष्यत्त्व प्राप्त करता है। कर्म और उपासना करके कोई ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है फिर उनमें कोई वहां से मुक्त होता है और रागी वहां से इस लोक में फिर जन्म लेता है। ऐसी विषमता से जीव संसार में भ्रमण किया करता है ॥५२॥

(लोकः) जन अर्थात् अज्ञानकृत भ्रम से वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करने वाला पुरुष (धर्मात्) वेदविहित कर्मानुष्ठान

जन्य पुण्य से ( देवत्वम् ) देवभाव को ( एति ) प्राप्त होता है और ( पातकैः ) वेदविहित कर्मों के न करने से तथा वेद निषिद्ध कर्मों के करने से उनके पापों से ( अधः ) नरक को ( व्रजति ) प्राप्त होता है। शेष बचे हुए पापों से फिर नरक से आकर इस लोक में ( स्थावरादीन् देहान् प्राप्य ) स्थावर आदिक नीच देहों को प्राप्त होकर बहुत प्रकार से ( प्रणश्यन् ) नष्ट भ्रष्ट होता हुआ फिर कभी दैवयोग से अपने सुख दुःखरूप फल के देने के लिये एक साथ ही उद्यत हुए ( ताभ्याम् ) निज पुण्य पापों से ( क्वचिदपि ) कदाचित् अर्थात् किसी काल में ( मानुषत्वम् ) मनुष्य शरीर को भी ( लभते ) प्राप्त होता है फिर, ( कर्मज्ञानोभयेन विधिपदं व्रजति ) कर्म और उपासना करके हिरण्यगर्भ के स्थान भूत ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है और ( तस्मिन् ) उस हिरण्यगर्भ लोक में ( कोपिमुच्यते ) कोई विरक्त उपासक ब्रह्मा के साथ मुक्त होजाता है और ( रागी ) भोगों की इच्छावाला ( भूयः जनिंप्रत्येति ) ब्रह्मलोक से आकर यहां इसी लोक में पुनः पुनः जन्मको प्राप्त होता है। ( इति ) इस प्रकार (विषमम्) बहुत दुःखकर ऐसे ( इह ) इस संसार में ( लोकः ) जीव ( बंभ्रमीति ) पुनः पुनः अर्थात् वार वार भ्रमता है, क्षणमात्र भी विश्रांति को प्राप्त नहीं होता ॥५२॥

**दुःखं स्वर्गात् प्रपाते बहुविध नरके गर्भ वासेऽति-**
**दुःखं निःस्वातन्त्र्याशनाया ग्रहगद रुदितैः**
**शैशवे दुःखमेव। तारुण्येऽमर्ष लोभ व्यसन परि**
**भवोद्वेग दारिद्र्यदुःखं वार्द्धक्ये शोक मोहेन्द्रिय**
**विलय गदै दुःखमन्तेऽतिदुःखम् ॥५३॥**

स्वर्ग से गिरते दुःख होता है, बहुत प्रकार के नरकों के समान गर्भवास में दुःख होता है, बाल्यावस्था में स्वतंत्रता रहित होने से मच्छर को हटाने में भी असमर्थ, भोजन में परवश, बालग्रह रोग और रुदन इन सबसे दुःख होता है, युवानीमें क्रोध, धन पुत्र स्त्रीमें आसक्ति, दरिद्रता, शत्रु से तिरस्कार आदि दुःख, वृद्धावस्था में शोक, मोह, इन्द्रियोंका नाश, कफ आदि रोगसे दुःख तथा अन्तमें मरण में अति दुःख होता है ॥५३॥

विचार कर देखो ( स्वर्गात् ) पुण्य भोगभूमिलोक से ( प्रपाते ) इस पृथिवी लोक में गिरने पर उस लोक के भोगों के वियोग जन्य ( दुःखम् ) दुःख होता है। फिर ( बहुविधि नरके ) नाना प्रकार के नरकों के समान ( गर्भवासे ) माता के गर्भाशय में ( अति दुःखम् ) अति दुःख होता है ( शैशवे ) बाल्य अवस्था में ( निःस्वातंत्र्याशनाया ग्रह गद रुदितैः ) मशक मात्र के भी निवारण करने में स्वाधीनता के अभाव से भोजन की इच्छा होने पर, बालग्रहों से अथवा रोगों से कष्ट होने पर रोना ही पड़ता है। इसलिये इसमें महान् दुःख है। ( तारुण्ये ) नव युवक अवस्था में ( अमर्ष लोभ व्यसन परि भवोद्वेग दारिद्रय दुःखम् ) क्रोध से, धन, स्त्री, पुत्र आदिकों में रागकी अधिकता से, स्त्री आदिकों में आसक्ति से, शत्रु आदिकों द्वारा किये गये तिरस्कार से, चोरादि उपद्रव कृत व्यग्रता से अर्थात् विक्षेप से तथा दैवयोग से, धन के अभाव में दरिद्रता से महान् दुःख होता है। ( वार्द्धक्ये ) वृद्धावस्था में ( शोक मोहेन्द्रिय विलय गदैः दुःखम् ) इष्ट वस्तु के

वियोग कृत अंतर दाहसे, अविवेक से, इन्द्रियों के क्षीण होजाने से, तथा कफादिक अनेक विध के रोगों से महान् दुःख होता है। और ( अन्ते: ) मरण कालमें भी ( अति दुःखम् ) सर्व ओर से प्राणों के निकलने के समय सर्व अंगों के पीड़न होने से अत्यंत दुःख होता है ॥५३॥

**इत्थं यः कर्मबद्धो भ्रमति परवशः प्राण भृज्जन्म संघैर्दुःखस्यान्तं न वेत्ति स्मरति न च जनि ज्ञातमज्ञान योगात् । तं सर्वानर्थ मूल प्रशमन विधिना स्वात्मराज्येऽभिषेक्तुं तात्पर्येण प्रवृत्ताः श्रुति शिखर गिरः सूत्र भाष्यादयश्च ॥५४॥**

इस प्रकार अज्ञान के योग से जो जीव कर्म बंधन में परवश होकर जन्म समुदाय में भ्रमण करता है, वह दुःख के अंत को नहीं जानता और अनेक व्यतीत जन्मों का स्मरण नहीं करता। उसको अपने आत्म साम्राज्य में अभिषेक करने के लिये और सब अनर्थों की निवृत्ति के लिये वेदान्तवाक्य और सूत्र भाष्यादि की प्रवृत्ति है ॥५४॥

( यः प्राण भृत् ) जो प्राणधारी जीव है सो यह जीव ( अज्ञान योगात् ) केवल साक्षात् ज्ञान ही से निवृत्त होने वाले मिथ्या अज्ञानके संबंधसे ( कर्म बद्धः ) कर्म बंधन से युक्त होकर तथा ( परवशः ) शरीराधीन होकर ( इत्थम् ) इस उक्त प्रकार से ( जन्म संघैः ) जन्मों के समूहों में अनेक जन्म धारण करके

( भ्रमति ) भ्रमण करता है, परन्तु ( एतद् दुःखस्यांतं न वेत्ति ) इस जन्म समूह के दुःख के नाश को तथा नाश के उपाय को नहीं जानता ( जनिव्रातं च नस्मरति ) और अतीत जन्म समूह का भी स्मरण नहीं करता ।

अब आगे श्लोक से अग्रिम ग्रंथ की प्रवृत्ति के हेतु को दिखलाते हैं—

( श्रुति शिखरगिरः सूत्रभाष्यादयश्च ) उपनिषदों के वाक्य और शारीरिक सूत्र, और तद्भाष्यादिक ग्रंथ ( तम् ) उस जीव को ( स्वात्मराज्ये ) शुद्ध, निजात्म स्वरूप परम आनन्दमय स्वराज्य में ( अभिषेक्तुम् ) तिलक करने के लिये अर्थात् स्थिर करने के लिये ( तात्पर्येण प्रवृत्ताः ) तात्पर्य वृत्ति से प्रवृत्त हुए हैं, साक्षात् नहीं । ( सर्वानर्थ मूलप्रशमनविधिना ) सब अनर्थों के मूल अज्ञान को निवृत्त करने वाले शुद्ध आत्माकार बोध को उत्पन्न करके भाव यह है कि उपनिषत् ब्रह्म सूत्र तथा उनके भाष्य आदिक ग्रंथ अज्ञान के निवर्तक शुद्ध आत्माकार ज्ञान को उत्पन्न करने के हेतुसे ही प्रवृत्त हुए हैं ।।५४।।

इति श्रीमत् गंगाधरेन्द्र सरस्वती प्रणीत स्वाराज्य सिद्धौ
अध्यारोपाख्य प्रथम प्रकरणे सरलान्वय पद्य
काशिकाऽऽख्या भाषा टीका समाप्ता ।

# स्वाराज्य सिद्धि ।

## द्वितीय प्रकरण ।

ॐ श्रीगुरुभ्योनमः ।

शंभुं व्यासं गुरुं नत्वा पालारामं मुहुर्मुहुः ।
प्रकरणेऽप्यपवादाख्ये क्रियते पद्यकाशिका ॥१॥

समूल सकल अनर्थ की निवृत्ति पूर्वक निर्विशेष परमानन्द स्वरूप नित्य मुक्त सदा अद्वैत रूप परब्रह्म में ही सब श्रुतिओं का तात्पर्य है इस अर्थ के प्रकट करने के लिये अध्यारोप प्रकरण के अनन्तर अब स्वाराज्य सिद्धि का दूसरा अपवाद नामक प्रकरण आरंभ किया जाता है। 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते। शिष्याणां बोधसिद्ध्यर्थं तत्त्वज्ञैः कल्पितः क्रमः ॥' जो स्वयं निष्प्रपंच है उसका अध्यारोप और अपवाद किया जाता है। वास्तव में बात तो यह है कि शिष्य के बोध की सिद्धि के लिये ज्ञानियों ने यह प्रक्रिया निकाली है। इस न्याय से इन दोनों प्रकरणों की यथा क्रमसे स्थापना की गई है। अध्यारोप प्रकरण तथा वक्ष्यमाण अपवाद प्रकरण का तात्पर्य निर्विशेष ब्रह्ममें ही है, तथापि भ्रांत पुरुष के बोध के लिये शाखा चन्द्र न्याय से भ्रांत पुरुष की दृष्टि में सिद्ध पदार्थ और पदार्थों के संबंध आदिक भेदको लेकर अपवाद प्रकरण के आदि में दोनों प्रकरणों से सिद्ध पदार्थका लक्ष्य लक्षण भाव दिखलाते हैं।

हेतुत्वं लक्षणं यद् गदित मिद मुपादान कर्तृ-
त्वरूपंताटस्थ्यादास्पदं स्वं गमयति परमं ब्रह्म
शाखेव चन्द्रम्। एवं लक्ष्यं च सच्चित् सुखवपु
रखिल द्वैत हीनं सुसूक्ष्मं सत्य ज्ञानादि मन्त्रो-
दितमखिलमनोवागतीतं गुहास्थम् ॥१॥

जगत् का उपादान और निमित्तरूप से जो कहा गया है उस परब्रह्म का शाखाचंद्र के समान तटस्थ लक्षण से बोध होता है इसी प्रकार यहां भी लक्ष्य रूप परब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप, संपूर्ण द्वैत रहित, बहुत सूक्ष्म, सत्य ज्ञानादि मंत्रों से कथन किया हुआ, मन वाणी का अविषय और गुहा में रहा हुआ है ॥१॥

( उपादान कर्तृ त्वरूपंहेतुत्वम् ) जगत् जन्मादिकों के प्रति अभिन्न निमित्त उपादान रूप ( यत् लक्षणं गदितम् ) जो अध्यारोप प्रकरण के पंद्रहवे श्लोक में लक्षण कथन किया है, वह लक्षण ( स्वं आस्पदम् परं ब्रह्म गमयति ) अपने अधिष्ठान रूप शुद्ध पर ब्रह्म का बोध करता है। किस प्रकार ? ( ताटस्थ्यात् ) तटस्थ रहकर। अर्थ यह है कि जैसे कोई पुरुष नदी पार जाने की इच्छा वाले पुरुष को नदी का ज्ञान नदी के किनारों में स्थित नदी से असंबंधित वृक्ष आदिकों से कराता है, वैसे ही साक्षात् संबंध के न होने पर भी कल्पित रूप से समीप की तरह स्थित होने से वह लक्षण निज अधिष्ठान रूप शुद्ध ब्रह्मका जिज्ञासु के प्रति बोध

कराता है। ( शाखा इव चन्द्रम् ) जैसे कल्पना की हुई चंद्रमा की समीपता से लोग शाखा से चंद्रमा का लक्ष्य कराते हैं वैसेही उक्त लक्षण से भी कदाचित् कल्पित संबंध द्वारा शुद्ध ब्रह्म की लक्षता कराते हैं। ( लक्ष्यं च एवम् ) जैसे उक्त लक्षण कल्पित संबंध द्वारा ब्रह्मके ज्ञान का कारण है वैसे ही, लक्ष्य भी कल्पित संबंध से ही शुद्ध ब्रह्म का लक्षक है। इसी तात्पर्य से संक्षेप शारीरकाचार्य सर्वज्ञ मुनि ने सत् चित् आनन्द आदिकों को भी भाग त्याग लक्षण से ही ब्रह्म की लक्षकता कही है। अब वह लक्ष्य रूप ब्रह्म कैसा है ? ( सच्चित्सुखवपुः ) सच्चिदानन्द स्वरूप है, ( अखिल द्वैत हीनम् ) सर्व द्वैत संबंध से रहित है, ( सुसूक्ष्मम् ) जिससे परे और कोई भी सूक्ष्म नहीं है, ऐसा अतिशय सूक्ष्म है, ( सत्यज्ञानादि मंत्रोदितम् ) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वेद मंत्रों से जो कहा गया है, ( अखिलमनोवागतीतम् ) सब मन वाणी आदिका अविषय है, तथा ( गुहास्थम् ) अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय रूप इन आत्मा के आवरक होने से पांच कोश रूप गुहा में स्थित है ॥१॥

अब उस लक्ष्यरूप ब्रह्म की अद्वैत रूपता का बोध कराने के लिये जगत् को ब्रह्म का विवर्त बताते हैं—

**कूटस्थं ब्रह्म विश्वं जनयति न विना मायया सा च मिथ्या तस्मिञ्छब्दप्रसिद्धेः पर समधिगमात्तन्निवृत्ति श्रुतेश्च। सैवाविद्या मृषार्था अपि समधिगताः कार्यदक्षाः प्रपंचस्तस्मान् मायूर पिच्छच्छबिरिवगहनो ब्रह्मसंविद्विवर्तः ॥२॥**

निर्विकार ब्रह्म माया के बिना विश्व की रचना नहीं कर सकता। वह माया मिथ्या है, जगत् में प्रसिद्ध है और ब्रह्मज्ञान से उसकी निवृत्ति सुनी है। वह ही अविद्या है। उसका कार्य मिथ्या होने पर भी होता रहता है, इसी कारण से यह जगत् मोर के पुच्छ के समान ब्रह्म चैतन्य का विवर्त है ॥२॥

( कूटस्थम् ) लोहे के ताड़ने के आधार भूत अहरन की तरह निर्विकार वा मिथ्याभूत मायाप्रपंच के अधिष्ठान रूप से स्थित ( ब्रह्म ) ब्रह्म ( विश्वं मायया विना न जनयति ) इस सर्व जगत् को माया के विना नहीं उत्पन्न करता, किंतु माया से ही उत्पन्न करता है, अन्यथा, ब्रह्म की कूटस्थता सिद्ध नहीं होगी ( सा च ) और वह माया ( मिथ्या ) केवल साक्षात् ज्ञान से ही निवृत्त होने से भ्रम का अनादि उपादान माया मिथ्या है। ( तस्मिन् शब्द प्रसिद्धेः ) क्योंकि लोक में भी नट, मदारी आदि के प्रदर्शित मिथ्या पदार्थों में माया शब्द की प्रसिद्धि है। ( च ) और पुनः वेद में ( परसमधिगमात् तन्निवृत्तिश्रुतेः ) ब्रह्म ज्ञान से माया की निवृत्ति होती है ऐसा श्रुति वचन भी है।

शंका—ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति ही संभव है क्योंकि ज्ञान अज्ञान का ही तम प्रकाश के समान विरोध है, माया से ज्ञान का कोई विरोध नहीं है।

इस शंका के निरास के लिये कहा जाता है—( सैवाविद्या ) वह माया ही अविद्या है इसलिये ज्ञान जिसका ही दूसरा नाम विद्या है उससे अज्ञान जिसका ही दूसरा नाम अविद्या है उसकी निवृत्ति संभव है। ( मृषार्थाः अपि ) यद्यपि ये माया के

रचे हुए पदार्थ मिथ्या हैं, तथापि ये ( कार्य दक्षाः ) स्वस्व उचित वेदपाठ, युद्ध आदिक कार्यों में समर्थ हैं ( समधिगताः ) सर्व मिथ्या पदार्थों का स्वस्वकार्य में समर्थ होना असुर आदिकों द्वारा रचे हुए जीव आदि पदार्थों में पुराण आदिकों में प्रसिद्ध है। इतने कहने से वेदांताचार्यों के सिद्धांत में मिथ्या भूत जगत् से यथोचित व्यवहार नहीं हो सकता क्योंकि सीपी में भासने वाली चांदी के भूषणों से कोई भूषित हुआ नहीं देखा, इस शंका का भी निरास हुआ जान लेना चाहिये। भ्रम काल में शुक्ति रजत विषयक प्रवृत्ति रूप व्यवहार भी देखा गया है इसलिये वेदांताचार्यों के प्रति शुक्ति रजत के दृष्टांत से मिथ्या जगत् में व्यवहार का अभाव संपादन करना भी अनुभव से विरुद्ध है। भाव यह है कि विचित्र शक्ति वाले विचित्र पदार्थों की कल्पना इन्द्रजालिकों की माया रूप से प्रसिद्ध है, इसलिये बुद्धिमानों को तो वेदांत मत में किसी प्रकार की शंका ही नहीं होनी चाहिये ( तस्मात् ) इसलिये मायिक होने से ( प्रपंचः ) यह जगत् ( ब्रह्म संवित विवर्तः ) अन्य रूप से ब्रह्म चैतन्य का ही प्रतिभास है। वह प्रपंच कैसा है ? ( मायूर पिच्छ च्छविः इव गहनः ) जैसे मोर के पिच्छ ( पुच्छ ) अनेक प्रकार से प्रतीत होने से एक रूप से अचिंत्य है वैसे ही यह प्रपंच भी अनेक रूप प्रतीत होने से एकरूप से अचिंत्य है ॥२॥

अब जगत् को ब्रह्मरूप कहकर लक्ष्यरूप ब्रह्म की अद्वैत रूपता स्पष्ट करते हैं—

**यस्माद् विश्वं सदुत्थं सदुपभृतमथो लीयते तत्र तस्मात्सन्मात्रं नान्यदस्मान्मृद इव घटि-**

**कोदंचनादिर्विकारः । सद्भेदे स्यादसत्त्वं सदथ यदि तदानास्तिभेदः कथंचिद् भेदाभेदौ विरुद्धौ नहि भवति भिदाऽभिन्नवस्तु प्रतिष्ठा ॥३॥**

इस कारण सत् से उत्पन्न हुआ, सत् में रहने वाला और सत् में लीन होने वाला जगत् सत् स्वरूप ही है, जैसे मृत्तिका का घट मृत्तिका ही है, मृत्तिका से भिन्न नहीं है। सत् से भेद हो तो असत् होगा, अभेद हो तो किंचित भेद नहीं होगा और भेदाभेद विरुद्ध धर्म होने से हो नहीं सकता, इससे अभिन्न वस्तु स्वरूपमें भेद नहीं है॥३॥

( यस्मात् ) जिस कारण से ( विश्वम् ) यह सर्व जगत् ( सदुत्थम् ) सत् रूप ब्रह्म से ही अभिव्यक्त हुआ है अर्थात् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, ( सदुपभृतम् ) इस काल में भी सत् रूप ब्रह्म से ही धारण किया हुआ है ( अथो ) तथा ( तत्र लीयते ) उस सत् रूप ब्रह्म में ही लय होजाता है, ( तस्मात् ) इसलिये ( सन्मात्रम् ) यह सर्व जगत् सत् ब्रह्म रूप ही है ( अस्मात अन्यत् न ) स्वात्मरूप होने से नित्य प्रत्यक्ष रूप सत् ब्रह्म से यह जगत् भिन्न नहीं है। यह अर्थ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' इत्यादि वेद के वचनों से स्पष्ट जान लेना। भावार्थ यह है कि जो जिस अधिष्ठान में प्रकट होता है तथा जिसमें स्थित रहता है तथा अन्त में जिसमें लय होजाता है, वह उस अधिष्ठान से भिन्न नहीं होता। जैसे रज्जु सर्पादिक रज्जु से भिन्न नहीं होते किंतु रज्जु रूप ही होते हैं, वैसे ही यह सर्व जगत् भी ब्रह्म रूप ही

है। इस उक्त अर्थ में साक्षात् वेद वचनों से बतलाये हुये दृष्टांत को ही अब दिखलाते हैं। ( मृद इव घटिकोदंचनादिः विकारः ) जैसे मृतिका में ही उत्पन्न होने से मृतिका में स्थित होने से तथा मृतिका में लय होने से घड़ा सकोरे, आदिक कार्य मृतिका से न्यारे नहीं है किन्तु मृतिका रूप ही हैं, वैसे ही जगत् भी ब्रह्म रूप ही है। ( सद् भेदे ) इस प्रपंच का यदि ब्रह्म से भेद है तो ( असत्त्वं स्यात् ) इस जगत् को मिथ्या रूपता होगी ( अथ ) और यदि यह जगत् ( सत् ) सत् ही है, यह पक्ष मानोंगे ( तदा कथंचित् भेदो नास्ति ) तो किसी प्रकार भी ब्रह्म से जगत् का भेद नहीं होगा अर्थात् उक्त दोनों पक्षों से जगत् को मिथ्या रूपता ही सिद्ध होती है। सत् पक्ष से वा असत् पक्ष से भिन्न तीसरा पक्ष बन ही नहीं सकता, क्योंकि ( भेदाभेदौ विरुद्धौ ) भेद तथा अभेद एक ही काल में और एक ही वस्तु में रहना असंभव है क्योकि ये परस्पर विरोधी अर्थात् एकत्र दो विरुद्ध पदार्थों की स्थिति होने पर एक की हानि अवश्य ही हो जाती है। अतः यह तीसरा पक्ष अयुक्त है। अव ( अभिन्नवस्तु प्रतिष्ठा ) उक्त प्रकार से जिससे कोई भी वस्तु भिन्न नहीं है उस वस्तु में ( भिदा नहि भवति ) प्रतियोगि के अभाव होने से भेद नहीं होता इसलिये आत्मस्वरूप ब्रह्म अद्वैत है ॥३॥

अब ब्रह्म की अभेद रूपता सिद्ध करने के लिये भेद की असिद्धि दिखलाते हैं—

**भेदोऽभिन्ने प्रतीतोभवति खलु मृषा चंद्रनाना-**
**त्मता वद्भिन्नेऽभेदश्च तद्वत् प्रभवति हि ततोन**
**स्वतो वस्तुभेदः। धर्मैर्भेदः प्रसिध्येद्यदि भवति**

**भिदा धर्मिणो हन्त तेषां भेदेऽभेदेऽपि लोके न खलु परिचिता धर्म धर्मिव्यवस्था ॥४॥**

भेद रहित वस्तु में भेद की प्राप्ति मिथ्या ही है जैसे अनेक चंद्र। तैसे ही भिन्नता में प्रतीत हुई एकता भी मिथ्या है। स्वतः वस्तु में भेदाभेद नहीं होता। कहो कि धर्म के भेद से भेद प्रसिद्ध ही है तो वैसा नहीं है, क्योंकि कटक का कनक से भेद नहीं है। लोक में धर्म धर्मी की व्यवस्था भी अनिश्चित होने से मिथ्या है ॥४॥

( अभिन्ने ) भेद रहित वस्तु में ( प्रतीतो भेदः ) प्रतीत हुआ भेद ( खलु ) निश्चय ही ( मृषा भवति ) मिथ्या है, ( चंद्र नानात्मतावत् ) जैसे भेद रहित चंद्रमा की अनेक रूपता मिथ्या है वैसे ही ( भिन्ने ) पृथक २ स्थित वस्तु में प्रतीत हुआ ( अभेदश्च ) अभेद भी ( तद्वत् ) मिथ्या ही है। दूर स्थित भिन्न २ वृक्षों में भी इसी प्रकार की मिथ्या एकता भासती है यह प्रसिद्ध ही है इसलिये भेद और अभेद को मिथ्यात्त्व होने से ( स्वतः ) अपेक्षा के विना वस्तु स्वरूपका भेदाभेदादिभेद ( न प्रभवति ) नहीं होता, किंतु किंचित् अपेक्षा से ही होता है।

शंका---एकरूप कनक ( सोना ) आदिकों में कटकत्व आदिक धर्मों से भेद सर्व लोक में प्रसिद्ध है।

समाधान--( धर्मैः ) कटकत्व कुंडलत्वादिक धर्मों से तो ( भेदः प्रसिध्येत् ) भेद सिद्ध हो ( यदि तेषां हन्त धर्मिणः भिदा भवति ) यदि उन कटकत्व आदि धर्मों का कनक आदि

धर्मों से भेद होता परन्तु वैसा है नहीं, क्योंकि, कनक और कटक कुंडल आदिकों का अभेद प्रसिद्ध है। किंच ( धर्मधर्मि व्यवस्था लोके ) लोक में धर्म धर्मी व्यवस्था भी ( न खलु भेदे नवाभिदे परिचिता ) न तो निश्चय रूप से भेद में ही अर्थात् अत्यंत भिन्न गौ अश्व आदिकों में ही निश्चय की गई है और न अभेद में ही अर्थात् न परमार्थ एक चन्द्र में ही देखी गई है। क्योंकि अत्यन्त भिन्न गौ अश्व आदिकों में परस्पर धर्म धर्मि व्यवहार किसी ने भी नहीं देखा है और न एक चंद्रमा में ही देखा है इसलिये धर्म धर्मि व्यवहार भी मिथ्या ही है ॥४॥

अब धर्म हेतुक भेदकी असिद्धिको प्रकारांतरसे दिखलाते हैं—

**यच्चाभिन्न स्वतस्तन्नभवति परतो भेद भाङ्**
**नान्य भेदादन्यो भिद्येत धर्माः कथ मथ विविधा**
**धर्म्यभेदादभिन्नाः। भेदो भिन्नाश्रयश्चेदधि-**
**करण भिदा तेन चेदात्मनिष्ठा नोचेदन्योऽन्य-**
**निष्ठा स्थिति हतिरथवा तद्भिदा दुर्निरूपा ॥५॥**

जो स्वतः ही अभिन्न है वह दूसरे से भेद वाला नहीं होता वैसे ही, अन्य भेद से भेद को प्राप्त नहीं होता। भिन्न धर्म कैसे है ? धर्मी की अभेदता से धर्म अभिन्न ही है, भिन्न आश्रय वाला भेद हो तो भेद के अधिकरण नाना मानने पड़ेंगे और आत्माश्रय अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोष आवेंगे, इसलिये भेद निरूपण करना शक्य नहीं है॥५॥

( च ) तथा ( यत् ) जो कनक आदिक वस्तु ( स्वतः ) स्वतः ही ( अभिन्नम् ) हैम कटकादिकों से अभिन्न है, ( तत् परतः ) सो कनक आदिक वस्तु कटकत्व, कुन्डलत्व आदिकों से ( भेद भाङ् न भवति ) भेद वाला नहीं होता अर्थात् उनसे उसके भेद की सिद्धि नहीं होती। वैसे ही ( अन्य भेदात् ) धर्मनिष्ठ भेद से ( अन्यः ) धर्मी अर्थात् कटक कुंडलादि धर्मनिष्ठ भेद से कनक आदि धर्मी ( न भिद्येत ) स्वनिष्ठ अन्य भेदों के अनुत्पन्न हुए भी अपने उन धर्मों के भेद से भेद वाला नहीं होता। क्योंकि अन्यके भेद से यदि अन्यको भेदवत्ता होजाय तो अभेद का उच्छेद ही हो जायगा। इतना ही नहीं, ( धर्माः विविधाः कथम् ) कटक कुंडल आदिक धर्मों में ही परस्पर भेद कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता, क्योंकि ( धर्म्यभेदात् ) कनकादिक धर्मों से कटकादिकों का अभेद ही है। इसलिये ( अभिन्नाः ) कटकत्व, कुंडलत्व आदिक धर्म भी परस्पर अभिन्न ही हैं। अर्थात् कटकाभिन्न, कनकाभिन्न कुंडल को कटक से अभिन्नता ही है। एक दूसरे से अभिन्न है और दूसरा तीसरे से अभिन्न है तो तीसरा पहिले से अभिन्न ही होता है, यह नियम है। ( भेदः ) अब सर्व घट पटादि भेद स्वआश्रयसे अभिन्न है अथवा भिन्न है ? यदि यह भेद आश्रयसे अभिन्न कहोगे तो व्याघात दोष प्राप्त होगा। क्योंकि विरुद्ध धर्मों का एक अधिकरण में समावेश होजाना ही व्याघात होता है, जैसे भेद के आश्रय घट पट आदिकों में भेद तथा अभेद दोनों विरुद्ध धर्मों का समावेश का कथन करना, प्रकरण के बाहर तो मेरे मुखमें जिह्वा नहीं है, मेरी माता वंध्या है. इत्यादिक व्याघात के उदाहरण प्रसिद्ध है। और ( भिन्नाश्रयश्चेत् ) यदि स्वआश्रय से भेद भिन्न है, यह दूसरा पक्ष कहोगे तो प्रश्न होता है कि भेद को स्वाश्रय से भिन्न किसने किया ? ( अधिकरण

भिदा ) सो भेदाश्रयनिष्ठ भेद ( तेन चेत् ) यदि उसी निरूप्यमाण भेद से भिन्न है, अर्थात् यदि अपने को अपने आश्रय से भिन्न किया है, ऐसा कहो तो ( आत्मनिष्ठां ) आत्माश्रय दोष प्राप्त होगा और ( नो चेत् ) स्वयं ही अपने को अपने आश्रय से भिन्न नहीं किया, किंतु किसी अन्य भेद ने भिन्न किया है इस प्रकार यदि कहोगे तो उस भेदान्तर को भी वह भेदरूप होने से भिन्नाश्रयकत्त्व नियम अवश्य मानना पड़ेगा । फिर उस दूसरे भेद को भी स्वाश्रय से भिन्न किस भेदने किया ? यह प्रश्न ज्योंका त्यों बना रहता है । यहां यदि कहो कि स्वयं ही अपने को स्वाश्रय से भिन्न किया, तो आत्माश्रय दोष ज्यों का त्यों बना रहा । यदि अन्य भेद ने किया ऐसा कहो तो वह अन्य भेद पहला ही है वा तीसरा है वा चौथा है ? यदि पहिला ही है अर्थात भेदांतराश्रय निष्ठ भेद को ही निरूप्यमाण भेद हेतुकता है तो ( अन्योन्यनिष्ठा ) अन्योऽन्याश्रय दोष प्राप्त होगा अर्थात स्वाश्रय भेद के लिये निरूप्यमाण भेद भेदांतर की अपेक्षा रखता है और भेदांतर स्वाश्रय भेद के लिये निरूप्यमाण भेदकी अपेक्षा रखता है इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष प्राप्त होगा । यदि भेदान्तराश्रय के भेद का हेतु तीसरा भेद है तो चक्र का दोष प्राप्त होगा । तीसरे भेदाश्रयस्थ भेदके लिये चौथा भेद अंगीकार करोगे तो ( स्थिति हतिः ) अनवस्था दोष प्राप्त होगा, क्योंकि आगे आगे पंचम भद आदिकों की अपेक्षा का अंत नहीं आवेगा, जहां जाकर ठहरोगे वहां विनिगमना विरह और प्राग् लोप दोष और प्राप्त होंगे ( तत् ) इसलिये अर्थात् आश्रय के निरूपण न होने से ( भिदा दुर्निरूपा ) भेदका निरूपण करना अशक्य है ॥५॥

अब प्रकारान्तर से भेद का खंडन करते हैं—

**भेदोऽयं भिन्न धर्मि प्रतिभट विषय ज्ञानज ज्ञानवेद्यो धर्म्यादेर्भेद सिद्धिः पुनरपि च तथेत्यापतेच्चानवस्था । भेदे धर्म्याद्यभेदे क्व भवति मृषा भेद बुद्धिर्विभेदे प्रादुष्युः पूर्व दोषा न च गतिरपरा तेन भेदो मृषैव ॥६॥**

इस भेद ज्ञान में परस्पर भिन्न भेद और भेद के आश्रय भूत प्रतियोगी के ज्ञान को ही कारणता है वैसे धर्मादिक की भेद सिद्धि भी ज्ञानाधीन ही है इस प्रकार यहां अनवस्था दोष प्राप्त होता है। भेदमें धर्मादि के अभेद मे भेद बुद्धि मिथ्या है, विभेद में पूर्वके दोष होंगे, इससे अन्य कोई गति नहीं है, इसी कारण भेद मिथ्या है ॥६॥

( अयं भेदः ) सामान्य रूप से ये सभी भेद ( भिन्न धर्मि प्रतिभट विषय ज्ञानजज्ञान वेद्यः ) परस्पर स्वाश्रय प्रतियोगि विषयक जो ज्ञान है उस ज्ञानजन्य ज्ञान से जाने जाते हैं। भाव यह है कि भेद ज्ञान से परस्पर भिन्न भेद के और भेद के आश्रयभूत प्रतियोगि का ज्ञान ही कारण है। पट प्रतियोगिक घटनिष्ठ भेदका ज्ञान प्रतियोगी और अनुयोगी रूप घटपटके ज्ञान के बिना नहीं होता। ऐसे ही, ( धर्मादेर्भेद सिद्धिरपि च पुनस्तथा ) कारणीभूत ज्ञान के विषय धर्मि प्रतियोगी के परस्पर भेद का ज्ञान भी तो वैसे ही धर्मी, अनुयोगी और प्रतियोगी के

ज्ञान के अधीन ही है। ऐसे ही आगे चलने से ( अनवस्था च आपतेत् ) अनवस्था दोष आकर प्राप्त होगा, क्योंकि कारणीभूत ज्ञान धारा की विश्रांति का वहां अभाव है और यदि इस अनवस्था दोष के भय से ( भेदे ) भेद पदार्थ में ( धर्म्यादि अभेदे ) धर्मी से, प्रतियोगी से और भेदांतर से अभेद मानोगे तो ( वत ) बड़ा खेद है कि ( भेद बुद्धिर्मृषा ) फिर भेद बुद्धि ही मिथ्या होगी। भाव यह है कि सब से अभिन्न होने से भेद का उच्छेद ही प्राप्त होगा और यदि भेद के उच्छेद के भय से भेद पदार्थ में ( विभेदे ) धर्मी आदि प्रतियोगिक भेद मानोगे तो ( पूर्व दोषाः प्रादुष्युः ) पूर्व दिये हुए आत्माश्रयादिक सर्व दोष प्रकट होकर इस पक्षको दूषित करेंगे। यदि भाव यह है कि अनुयोगी और प्रतियोगी से भेद भिन्न है तो पूछना चाहिये कि अनुयोगी और प्रतियोगी से भेद को भिन्न इसी भेद ने किया वा अन्य भेद ने किया है ? आदि पक्ष में आत्माश्रय स्पष्ट प्रतीत होता है और दूसरा पक्ष भी संभव नहीं, क्योंकि यह दूसरा भी भेद ही है इसलिये वह धर्मी आदिकों से अभिन्न मानोगे तो भेद का उच्छेद वा व्याघात दोष प्राप्त होगा। इसलिये अपने भिन्न धर्मी के प्रतियोगी में दूसरा भेद भी वर्तता है तो इस दूसरे भेद को भी धर्मी के प्रतियोगी के भिन्न करने में प्रथम भेद की अपेक्षा यदि होगी तो अन्योऽन्याश्रय दोष प्राप्त होगा॥

ऐसे ही, आगे बढ़ने पर चक्रि का, अनवस्था, विनिगमना विरह प्राग्लोप, अनुभवका विरोध आदिक दोष ज्योंके त्यों बने रहेंगे। ( अपरागतिश्च न ) अब और कोई तीसरी गति नहीं है अर्थात भेद उदासीन में रहता है इस प्रकार की कोई तीसरी कोटि नहीं है, क्योंकि उक्त दो कोटि से भिन्न तीसरी कोटि ही

असंभव है, ( तेन भेदो मृषैव ) इसलिये अर्थात् उक्त प्रकार से भेद की सिद्धि न होने से भेद मिथ्या ही है ॥६॥

अब प्रकारान्तर से भेद की असिद्धि दिखलाई जाती है—

**द्रव्ये भेदस्य योगो न भवति निरुपाख्यस्य भावस्वरूपो नाभावोऽन्यः समत्वादनुभय मिलनाञ्चापि तत्तत्स्वरूपम् । भावाभावातिरिक्तं न च किमपि तयोरस्ति संबंधरूपं निःसंबंधेऽपि शुक्तौ रजतमिव मृषा तेन भेदः प्रतीतः ॥७॥**

अनिर्वाच्य द्रव्य से किसी वस्तु का योग नहीं होता। संबंध भी भाव स्वरूप होता है। यदि कहो कि संबंध भी अभाव स्वरूप है तो वह समान होने से संबन्धी से भिन्न नहीं होगा और दोनों के न मिलनेसे वह संबंध अपने अपने संबन्धी स्वरूप भी नहीं है। दोनों प्रकार का संबन्ध न होने से प्रतीति होने वाला भेद शुक्ति के रजत के समान मिथ्या ही है ॥७॥

( निरुपाख्यस्य भेदस्य द्रव्ये योगो न भवति ) अन्योऽन्या भाव रूप होने से किंचित् वस्तु स्वरूप तथा कहने को अशक्य, शून्य स्वरूप भेद का किसी भी वस्तु में संबंध नहीं है, क्योंकि ( भाव स्वरूपः ) संबंध भाव स्वरूप होता है। भाव यह है—संबंध संबंधियोंसे भिन्न है और संबंधियों के आश्रय रहता है, अतः भावरूप

है। उस भावरूप संबंधका आधार अवस्तुरूप और अन्योऽन्याभाव-रूप भेद संभव नहीं है। यदि कहोकि (अभावः) वहसंबंध भी अभाव स्वरूप है तो ( अन्यः न ) वह अभावरूप संबंध भी संबंधियों से भिन्न नहीं होगा, क्योंकि ( समत्वात् ) भेद भी अन्योऽन्याभाव रूप होने से अभाव रूप है और संबंध को भी तुम अभाव रूप ही कहते हो। इस प्रकार दोनों समान ही हैं अर्थात् एक रूप ही हैं। यही नहीं ( तत्तत्स्वरूपं अपि न ) वह संबंध अपने अपने संबंधी स्वरूप भी नहीं है, ( अनुभय मिलनात् ) दोनों के न मिलने से। भावार्थ यह है कि संबंध पद का अर्थ मिलना है। अर्थात् दो पदार्थों के मिल जाने का नाम संबंध है। इसलिये दोनों संबंधियों के भिन्न भिन्न स्थित होने से संबंधियों से भिन्नता और संबंधियों की आश्रितता संबंध को नहीं है। अब भावाभाव से भिन्न कोई तीसरा प्रकार संबंध में बन नहीं सकता यह कहते हैं। ( तयोः ) भेद और भेद के आधार में ( भावाभावातिरक्तं संबंध रूपं किं अपि नास्ति ) भावाभाव से भिन्न कोई भी संबंध का स्वरूप नहीं है, क्योंकि भाव तथा अभाव से भिन्न कोई भी तीसरा प्रकार नहीं है। ( तेन ) इसलिये अर्थात् दोनों प्रकार से संबंध का निरूपण न होने से ( निःसंबंधेपि ) संबंध के न होने पर भी ( प्रतीतः ) प्रतीयमान ( भेदः शुक्तौ रजतमिव मृषा ) भेद शुक्ति में रजत के सदृश मिथ्या ही है ॥७॥

भेद प्रत्यक्षादिक प्रमाणों से सिद्ध है, इसलिये भेद को अवश्य मानना चाहिये, इस शंका का अब निरसन करते हैं—

**संयोगादेरयोगान्नहि भवति भिदा गोचरश्चे न्द्रियाणां व्याप्तिर्नासंगताया न भवति सदृशी**

**वाक्य तात्पर्यदूरा । माना भावो न मानं न च पुनरपरं मानमस्यां तथापि प्रत्यक्षा स्वाप्न माया नगरमिव भवेत्साधु सैषा मृषैव ॥८॥**

संयोग आदि संबंध की अयोग्यता से भेद इन्द्रियों का विषय नहीं है, असंगता की प्राप्ति नहीं है, सादृश्य भी नहीं है, वाक्य तात्पर्य से दूर है, उपलब्धि अनुपलब्धि प्रमाण नहीं है और इसके लिये कोई अन्य प्रमाण भी नहीं है तो भी भ्रांति से यह भेद स्वप्न के अथवा माया के नगर के समान प्रत्यक्ष अवश्य है तो भी वह मिथ्या ही है ॥८॥

( भिदा ) भेद ( इन्द्रियाणां गोचरो न भवति ) इन्द्रियों का विषय नहीं है, क्योंकि ( संयोगादेः अयोगात ) संयोग आदिक संबंध की योग्यता ही नहीं है। भाव यह है, भेद को अवस्तुत्व आदिक हेतुओं से सर्वथा संबंध की योग्यता का अभाव है, इस कारण प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय भेद नहीं है। अर्थात् भेद के साथ जब इन्द्रियों का संबंध ही न होगा तब भेद को प्रत्यक्षता कैसे हो सकती है ? और विना ही इन्द्रियों के संबंध से भेद को प्रत्यक्ष मानोगे तो सर्व प्राणियों को विना ही प्रयत्न से सर्वज्ञता प्राप्त हो जावेगी और अनुमान आदिक प्रमाणों को निष्फलता प्राप्त हो जावेगी, क्योंकि प्रत्यक्ष में अनुमानादिकों की प्रवृत्ति नहीं होती है और न मानी ही है। ( असंगतायाः व्याप्तिर्न ) अनुमान प्रमाण का भी भेद विषय नहीं है, क्योंकि कहीं

पर भी संबंध शून्य भेद की व्याप्ति नहीं है। भाव यह है, साध्य साधन का नियत सहचार संसर्ग ही व्याप्ति का स्वरूप है। यहां भेद रूप साध्य संबंध से रहित है, इसलिये भेद की कहीं पर भी व्याप्ति का ग्रहण नहीं होगा, इसलिये अनुमान प्रमाण का भी भेद विषय नहीं है। इसी प्रकार संबंध रहित होने से ही भेद उपमान प्रमाण का भी विषय नहीं है, इस तात्पर्य से कहते हैं कि (सदृशी न) भेद सदृश नहीं है। भाव यह है, निःस्वरूप भेद में किंचित भी सादृश्य संभव नहीं है और उपमिति सादृश्य ज्ञान के आधीन होती है। (वाक्य तात्पर्यदूरा) भेद अद्वैत रूप वेद-तात्पर्य से भी संबंध वाला नहीं है। भाव यह है, भेद निरुपाख्य होने से ही अर्थात् भावाभाव रूप से भेद का निर्णय न होने से भेद वेद रूप शब्द प्रमाण का भी विषय नहीं है। शब्द प्रमाण से भी वस्तु का ही परोक्ष वा अपरोक्ष ज्ञान होता है और भेद कोई वस्तु नहीं है, इस कारण भेद शब्द प्रमाण का भी विषय नहीं है। (मानाभावः) मान नाम उपलब्धि का है, उसके अभाव का नाम अनुपलब्धि है, सो अनुपलब्धि (मानं न) प्रमाण ही नहीं है, क्योंकि अभाव रूप होने से अनुपलब्धि को अवस्तु रूपता है। (अस्याम् अपरं मानम्) इस भेद में अर्थापत्यादिक कोई और प्रमाण भी (न च) नहीं है क्योंकि अर्थापत्यादिक अनुमान के अंतर्गत हैं। (तथापि) इस प्रकार भेद, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अनुपलब्धि आदिक प्रमाणों के अविषय होने पर भी (प्रत्यक्ष सा एषा) सबको अनुभव सिद्ध है ऐसा यह भेद (स्वाप्नमाया नगरमिव) स्वप्न प्रकटित नगर को तरह और नट की माया से प्रकटित नगर की तरह (मृषैव) मिथ्या ही है। अर्थ यह है कि जो किसी प्रमाण से तो सिद्ध नहीं हो और प्रतीत हो वह मिथ्या ही होता है, जैसे

रज्जु सर्प आदिक । ऐसे ही, भेद किसी भी प्रमाण से सिद्ध तो होता नहीं परंतु फिर भी प्रतीत होता है, इसलिये मिथ्या है ॥८॥

अब द्वित्व आदिरूप भेद का निरसन किया जाता है—

**बाह्योऽर्थो बुद्धि मात्रान्नभवति स भवन् गोचरः स्यात्परेषामेकैकं न द्वयं चेदुभयमिति मृषा तद्विशिष्ट प्रथा च । द्वित्वादेः संकरः स्यान्न खलु भवति ते प्रागभावाद्व्यवस्था नापेक्षा बुद्धि क्लृप्तिः सकल मपि शनैर्योज्यमेतत्पृथक्त्वे ॥ ९ ॥**

बुद्धि के बाहर का पदार्थ बुद्धिमात्र के निमित्त से नहीं होता, वह उत्पन्न होकर दूसरों का विषय होता है। एक एकमें द्वित्वकी प्रतीति न होनेसे दोनों मिथ्या हैं और वह दो विशष्ट घटादि ज्ञान भी मिथ्या हैं। दूसरे, ऐसा मानने में द्वित्वादिकों का संकर प्राप्त होगा। निश्चय ही प्रागभाव की कल्पना से तेरे मतमें व्यवस्था नहीं होगी और अपेक्षा बुद्धिके मानने से व्यवस्था न हो सकेगी। इस प्रकार क्रम से पृथक्त्व में भी सब दोष समझने चाहिये ॥९॥

( बाह्योऽर्थः ) बुद्धि से बाहर भूतल आदि प्रदेश में उत्पन्न हुआ सत्य पदार्थ ( बुद्धि मात्रात् ) केवल बुद्धि रूप निमित्त से ही ( न भवति ) नहीं होता, क्योंकि बाह्य पदार्थ की उत्पत्ति के

और भी निमित्त प्रसिद्ध हैं, इसलिये वह केवल बुद्धिरूप निमित्त से ही उत्पन्न नहीं होता। द्वित्व तो बहिर्भूत दो घंटों में ही यह एक है और यह एक है इस अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होता है और अनंतर ये दो घट हैं, इस प्रतीति से भेद वादियोंने द्वित्व स्वीकार किया है। इसलिये मेघों में बुद्धि से कल्पित नगर के समान वह द्वित्व मिथ्या ही है। भेद वादियों के मत में ( सः ) सो द्वित्व आदि बुद्धि जन्य पदार्थ ( भवन् ) उत्पन्न होकर ( परेषां गोचरः स्यात् ) अन्य पुरुषों को प्रत्यक्ष होगा जैसे घटादि बाह्य सत्य पदार्थ प्रत्यक्ष हैं, परन्तु ऐसे नहीं होता है। इसलिये भी वह द्वित्व केवल कल्पक के ही विषय होने से केवल उसीको बुद्धि की वृत्ति रूप स्वप्न नगर के सदृश मिथ्या ही है। तथा ( एकैकं चेत न द्वयम् ) एक एक वस्तु में द्वित्व की प्रतीति न होने से यदि एक एक घट आदिक वस्तु द्वित्व से रहित है तो ( उभयम् ) घटद्वय द्वित्व विशिष्ट हुआ ( इतिमृषा ) यह कथन मिथ्या ही है क्योंकि दो घटों में द्वित्व का अभाव भी विद्यमान है और जिसमें जिसका अभाव हो उसमें उसी प्रकार का बोध प्रमाण नहीं होता। तथा ( तत विशिष्ट प्रथा च मृषा ) घटादिकों का द्वित्व युक्त ज्ञान भी अप्रमा ही है और अप्रमा ज्ञान मिथ्या पदार्थ विषय ही होता है। दूसरे, ऐसा मानने से ( द्वित्वादेः संकरः स्यात् ) द्वित्व, त्रित्व आदि अनेकों का एक आश्रयकत्व रूप संकर प्राप्त होगा और ( ते खलु प्रागभावात् व्यवस्था न भवति ) निश्चय ही तेरे मत में प्रागभाव का हेतु मानने से इसकी व्यवस्था नहीं होती। भाव यह है कि सर्वत्र ही द्वित्वादिकों की प्रतीति न होने से और इसमें ही द्वित्वादिकों का प्रागभाव है इस प्रकार निश्चय नहीं होने से तेरे मत में व्यवस्था नहीं है और अपेक्षा बुद्धि से भी तेरे मत में व्यवस्था नहीं हो सकती,

क्योंकि ( अपेक्षा बुद्धि क्लृप्तिः न ) इसमें इस प्रकार की अपेक्षा बुद्धि हेतु है ऐसा अपेक्षा बुद्धि का निश्चय नहीं होता। यह एक है और यह एक है इस अपेक्षा से द्वित्व तथा यह दो हैं और यह एक है इस अपेक्षासे त्रित्व प्रतीत होता है। ( एतत्सकलम् ) पूर्व उक्त ये सब दूषण ( पृथकत्वेपि ) पृथकत्वरूप भेद में भी ( शनैर्योज्यम् ) क्रम से लगाना चाहिये, क्योंकि संख्या अर्थात् द्वित्व के समान पृथकत्व भी अपेक्षा बुद्धि जन्य होने से द्वित्वपक्ष के समान ही है ॥९॥

मतान्तराभिमत कार्यकारण के वास्तव भेद पक्ष का निराकरण किया जाता है—

**कार्यं नान्यन्निदानात्पृथगनधिगमान्नह्युपादान हेत्वोर्वैलक्षण्यं तथात्वे न भवति समवायाद्व्यवस्थानुपेतात् । नोचेत् स्वर्णादि कार्ये द्विगुण गुरुतया मूल्य वृद्धि प्रसंगोऽवस्था भेदाद्विभेद स्थिति गतिभिदया भेदिनः स्युर्नराश्च ॥१०॥**

भेदकी पृथक् प्राप्ति न होनेसे उपादान कारणसे कार्य भिन्न नहीं होता। भेद होने पर भी विशेषता नहीं है। समवाद से भी व्यवस्था नहीं होगी। कार्य उपादान रूप नहीं है तो द्विगुण से कार्य भारी होने से मूल्य में वृद्धि का प्रसंग होगा, अवस्था के भेद मानने में स्थिति और गति से मनुष्यों में भी भेद मानना पड़ेगा ॥१०॥

( कार्यं निदानात् अन्यत न ) कटक कुँडल आदिक कार्य सुवर्णरूप उपादान कारण से स्वरूप से भिन्न नहीं है, क्योंकि ( पृथक् अनधिगमात ) उन कटक आदिक कार्यों को सुवर्ण रूप उपादान कारण से भिन्न रूप से दिखलाने को कोई भी कार्य कारण का परमार्थ भेदवादी समर्थ नहीं है। ( तथात्वे ) कार्य का कारण से भेद होने पर ( हि ) जिस कारण से ( उपादानहेत्वोः वैलक्षण्यं न ) उपादान हेतु की विलक्षणता अर्थात् विशेषता नहीं होगी और उपादान हेतु में अपने से अभिन्न कार्य उत्पादकत्व रूप वैलक्षण्य विद्यमान है।

शंका--समवाय ही कार्यकारण का भेदक है।

समाधान--( अनुपेतात् समवायात ) आत्माश्रयादिक दोष ग्रस्त होने से सिद्धांत में अस्वीकृत समवाय से भी ( व्यवस्था न भवति ) कार्यकारण के भेद की अर्थात् कार्य के उपादान कारण से परमार्थ भेद की व्यवस्था नहीं होती। अर्थ यह है कि परमत में स्वीकार किया हुआ समवाय भी संबंधियों से भिन्न ही मानना होगा इसलिये वह समवाय भी संबंधियों का समवाय संबंध का ही आश्रय करेगा। आत्माश्रय दोष के भय से प्रकृत समवाय से वह समवाय अन्य ही मानना पड़ेगा और दूसरा भी समवायरूप होने से समवाय अपने संबंधियों में समवाय से ही रहेगा। अब यह दूसरा समवाय यदि प्रकृत प्रथम समवाय से अपने संबंधियों में रहेगा तो अन्योऽन्याश्रय दोष प्राप्त होगा और इस दोष के भय से तीसरा समवाय मानोगे तो चक्र का दोष प्राप्त होगा और चौथा मानोगे तो आगे आगे धारा की विश्रांति न होने से अनवस्था दोष प्राप्त होगा। जिस समवाय में जाकर विश्रांति होगी वहां प्रागलोप और विनिगमना

विरह दोष प्राप्त होंगे। समवाय संबंध की नित्यता 'अतोऽन्यदार्त्तम्' इत्यादिक श्रुतियों से बाधित है। इस प्रकार के दोषों वाले समवाय का स्वीकार न होने से वह समवाय भी कार्यकारण का भेद सिद्ध नहीं कर सकता और कार्य कारण के परमार्थ भेद पक्ष में कारक संबंध की निष्फलता रूप दोष भी प्राप्त होता है। (नो चेत्) कटक आदि कार्य यदि स्वर्ण आदि उपादान रूप नहीं हैं ऐसे दृढ़ है तो (स्वर्णादिकार्ये) स्वर्ण आदिकों के कार्य कटक आदिकों में (मूल्य वृद्धि प्रसंगः) स्वर्णादि रूप कारण के मूल्य से द्विगुणा मूल्य प्राप्त होगा। अर्थात् स्वर्ण के मूल्य से कटक कुंडल का मूल्य द्विगुणा होवेगा क्योंकि (द्विगुण गुरुतया) कारण की गुरुता तथा कार्य की अपनी गुरुता इस प्रकार कार्य में कारण से द्विगुणा गुरुत्व है। भाव यह हैं कि इस भेदवादी के मत में कारण का और कार्य का भेद है इस कारण से गुरुत्वादि गुणों का भी भेद ही है। और कारण के गुण कार्य द्रव्य में अपने सदृश गुणों का आरंभ करते हैं इस न्याय से कार्य द्रव्य में कारण की गुरुत्वता के समान ही गुरुत्वान्तर उत्पन्न होकर कारण से कार्य का परिमाण द्विगुणा होगा। इसलिये कार्य का मूल्य कारण के मूल्य से द्विगुणा होना चाहिये। कार्य कारण के अत्यन्त अभेद पक्ष में भी (अवस्थाभेदात्) कटक कुंडल आदि रूप अवस्था परिमाण भेद से (विभेदे) कनक स्वरूप के भेद मानने पर (स्थिति गति भिदया) गति की निवृत्तिरूप स्थिति और गमनादि रूप गति अवस्था के भेद से (नराश्च) नर भी अर्थात् मनुष्य भी (भेदिनः) भेद वाले हो जावेंगे। भाव यह है कि प्रतिअवस्था से देवदत्त का भेद होने में जन्म मरण हेतुक

क्रिया की प्राप्ति होवेगी । कार्य कारण के अत्यन्त अभेद पक्ष में और भी अनेक दोष हैं ।।१०।।

प्रथम भेद का खंडन किया । फिर प्राप्त कार्य कारण के अत्यन्त भेद का भी खंडन किया । इस प्रकार खंडन से कार्य की अनिर्वचनीयता सहज ही प्राप्त होती है। इस कार्य के अनिर्वचनीय पक्ष में पूर्व उक्त कोई भी दोष प्राप्त नहीं हो सकता । अतः कार्य कारण का भेद प्रत्यय मायिक है, वस्तुत्व की दृष्टि से नहीं है, इस अर्थ को अब दृष्टांत पूर्वक दिखलाया जाता है—

**पिंडावस्था घटत्वे मनसि विमृशतो हेतु कार्यत्व धीःस्यान्मृन्मात्रं यद्वदेकं स्फुटमभिमृशतो नैव हेतुर्न कार्यम् । तद्वन्मायि प्रपंचौ मनसिकलयतो ब्रह्म विश्वस्य हेतुः सन्मात्रं त्वेकरूपं पटु परि मृशतो नैव मायी न विश्वम् ।।११।।**

पिंडावस्था ही में घटावस्था की मन से कल्पना करते हुए कार्य कारण का भाव उदय होता है । केवल मृत्तिका ही है ऐसे बिचार से न कारण है न कार्य है । इस प्रकार ईश्वर और प्रपंच मन से कल्पित है । विश्व का कारण ब्रह्म है, केवल अद्वैत रूप सन्मात्र है ऐसा दृढ़ निश्चय होने पर न ईश्वर है न विश्व है ।।११।।

(पिण्डावस्था घटत्वे) मृत्तिका की ही यह पिंडावस्था है तथा घटत्वावस्था है ( मनसि विमृशतः ) इस प्रकार मनमें मृत्तिकाकी उक्त भिन्न भिन्न दोनों अवस्थाओं का विचार करते हुए पुरुष के अंतःकरण में ( हेतु कार्यत्वधीः स्यात् ) कारणकार्यरूप भेद ज्ञान होता है और उक्त मृत्तिकाकी इन दोनों अवस्थाओंमें ( एकंमृन्मात्रं स्फुटम् ) एक मृत्तिका ही स्फुट है, ( अभिमृशतः ) इस प्रकार से विचार करते हुए पुरुष के अंतःकरण में यह स्फुट निश्चय हो जाता है कि ( नैवहेतुः न कार्यम् ) न कारण है और न कार्य है, अर्थात् कार्य कारण भिन्न नहीं है। ( यद्वत् ) जैसे यह दृष्टांत है ( तद्वत् ) तैसे ही दार्ष्टान्त मे भी ( मायिप्रपंचौ ) ईश्वर और ब्रह्मांड दोनों को ( मनसि कलयतः ) भिन्न भिन्न विचार करतेहुए अधिकारी के अंतःकरण में ( विश्वस्य हेतुः ब्रह्म ) समस्त संसार का कारण ब्रह्म है, अर्थात् कार्य कारण का जितना भेद है ( सन्मात्रं एकरूपम् ) सब केवल अद्वैत रूप सन्मात्र है और ( पटुपरि मृशतः ) इस प्रकार दृढ़ रूप से विचार करते हुए अधिकारी के मन में ( नैवमायी न विश्वम् ) न ईश्वर है न विश्व है, अर्थात् ईश्वर ब्रह्मांड में भेद नहीं है इस प्रकार निश्चय हो जाता है। अर्थ यह है कि जैसे पिंडावस्था में तथा घटत्वावस्था में एक मृत्तिका ही यथार्थ है तैसे ही ईश्वरावस्था में और ब्रह्मांडावस्था हैं एक अस्ति भांति प्रियरूप ब्रह्म ही यथार्थ है इस प्रकार अभेद का निश्चय होजाता है ॥११॥

पूर्व कार्य की जो मिथ्यारूपता कही उसमें यह शंका प्राप्त होती है कि यदि जगत् मिथ्या है तो सत् रूप कैसे प्रतीत होता है ? इस शंका का समाधान दृष्टांत पूर्वक किया जाता है—

**कुम्भः सत्कुसूलं सदखिलमिति यद्भाति**

**यच्च श्रुतंप्राक् तत्सत्यं व्याप्य विश्वं घट पिठर मुखं मृत्तिकेवावभाति। तस्मिन् रज्जाविवाहि-र्निखिलमयि जगत्कल्पितं तत्स्वभावात्त-न्मात्रं तत्पृथक्त्वे ह्यसदिदमखिलं स्यात्तदेव ह्यभेदे ॥१२॥**

घट सत्य है, कोठी सत्य है सब सत्य है ऐसे जो सत्य मालूम होता है और जो सृष्टि के पूर्व में सत्य का श्रवण किया है वह सत्य ही ब्रह्मांड को व्याप्त होकर प्रतीत होता है। जैसे मृत्तिका ही घट हांडी आदि में प्रतीत होती है जैसे रस्सी में सर्प है वैसे ही उसमें सम्पूर्ण जगत् कल्पित है, वह उसीका स्वरूप मात्र ही है। उसको पृथक् करने पर संपूर्ण जगत् मिथ्या होता है और अभिन्न होने से वह ब्रह्म है ॥१२॥

( कुंभःसन् ) घट सत्य है ( कुसूलं सत् ) धान्य पात्र रूप कुसूल सत है ( सत् अखिलम् ) सर्व सत्य है ( इति ) इस प्रकार से ( यत् सत्यंभाति ) जो सत प्रतीत होता है ( च ) और ( यत्प्राक् श्रुतं ) जो सृष्टि की उत्पत्ति के पहिले 'सदेव सोम्य' इत्यादिक श्रुतियों में सत् श्रवण किया है अर्थात् निरूपण किया है ( तत्सत्यं विश्वं व्याप्य अवभाति ) सो सत्य ही ब्रह्मांडको व्याप्तकर प्रतीत होता है। अर्थ यह है कि अधिष्ठानरूप उपादान की सत्ता ही जगत् में अनुगत होकर प्रतीत हो रही

है। इस अर्थ में दृष्टांत दिखलाते हैं—( घटपिठरमुखं मृत्तिका इव ) जैसे मृत्तिका ही स्वकार्यों में अनुगत हुई घट और पिठर आदिक कार्यों में व्याप्त रह कर प्रतीत होती है और ( रज्जौ अहिः इव ) जैसे रज्जु में सर्प कल्पित है ( तस्मिन् ) तैसे ही इस सत् रूप ब्रह्म में ( निखिलं अपि जगत् कल्पितम् ) संपूर्ण जगत् भी कल्पित है। इसलिये ( तत्स्वभाभात् तन्मात्रम् ) यह सर्व कल्पित जगत् अधिष्ठान ब्रह्मरूप होने से ब्रह्म मात्र ही है। इस अर्थ में भी उक्त घट मृत्तिका रज्जु सर्प आदिक दृष्टांत ग्रहण करने चाहिये। ( तत्पृथकत्वे हि ) सत् ब्रह्म से भिन्न होने पर ( अखिलं इदं जगत् असत् स्यात् ) यह सब जगत् मिथ्या ही सिद्ध होता है क्योंकि सत् से भिन्न की असत् से विना और कोई गति नहीं है। ( अभेदे हि तदेव ) और सत् रूप अभेद के होने पर वह ब्रह्म ही है। अर्थ यह है कि जगत् में अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूप ये पांच अंश हैं। इनमें आद्य तीन अंश ब्रह्मरूप हैं और दो अंश माया रूप हैं। कल्पित वस्तु अपने अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती, इसलिये सत् ब्रह्म एक है और उसमें भेद प्रतीति अज्ञानकृत भ्रांति से है ॥१२॥

यदि सर्व सत् रूप ही है तो शुक्ति रजत का बाध होजाता है और बाजार में स्थित रजत का बाध नहीं होता यह बाधाबाध व्यवस्था सर्व के सत् रूप एक पक्ष में कैसे हो सकती है ? इस शंका का समाधान करते हैं—

**एकैव ब्रह्मसत्ता व्यवहृतिविषये शुक्तिरूप्यादिके च ख्यांत्याद्ये सत्यमेतज्जगदिति धियमाब्रह्म-बोधाद्विधत्ते। यावत्स्फूर्ति द्वितीये प्रथितमिव**

**पट स्फाटिके रक्त रूपं माञ्जिष्ठं साधु रक्तः पट इति न मृषा स्फाटिके तन्मृषेति ॥१३॥**

शुक्ति रजत को दिखलाने वाली एक ब्रह्मसत्ता ही है परन्तु व्यवहार में ब्रह्म बोध पर्यंत जगत् सत्य है इस प्रकार की बुद्धि होती है और दूसरी अर्थात शुक्ति रजत की प्रतीति है वह केवल प्रतीति के समय ही सत्य है। जैसे वस्त्र और स्फटिक में मंजिष्ट सम्बंधी लाल रूप है तो भी रक्त पट है यह ज्ञान मिथ्या नहीं है सत्य ही है और स्फटिक में वह मिथ्या ही है ॥१३॥

( व्यवहृति विषये ) क्रय विक्रय आदि व्यवहार के आस्पद रजत आदिकों में ( शुक्ति रूप्यादिके च ) और शुक्तिमें प्रतीत हुए रजत आदिकों में ( ख्यांती ) भासमान अर्थात् प्रतीयमान ( ब्रह्मसत्तैव एका ) केवल एक ब्रह्म सत्ता ही है तथापि ( आद्ये ) क्रयविक्रयादि व्यवहारके विषय भूत बाजारमें स्थित रजत आदिकों में (आब्रह्मबोधात्) ब्रह्म के साक्षात्कार पर्यन्त (एतज्जगत् सत्यम्) यह जगत् सत्य है। ( इति धियं विधत्ते ) इस प्रकार की प्रतीति सबको होती है और (द्वितीये) दूसरे शुक्ति रजतादिकों में (यावत् स्फूर्ति ) यह रजत है इस प्रकार की प्रतीति पर्यन्त ही यह रजत सत्य है इस प्रकार की प्रतीति होती है। क्योंकि यह रजत नहीं है इस प्रकार अति शीघ्र ही शुक्ति रजत का बाध प्रवृत्त होजाता है। अर्थ यह है, शुक्ति रजत आदिकों की प्रातिभासिक सत्ता है, क्योंकि शुक्ति रजत आदिकों का ब्रह्मज्ञान होने के प्रथम ही

बाध होजाता है।

शंका—एक ही कल्पक दो प्रकार की सत्ताकी कल्पना कैसे कर सकता है ?

समाधान—जैसे एक ही पुरुष स्वप्न में गिरि, नदी, समुद्र, देवता, ईश्वर आदिक पदार्थों को चिरकाल स्थायी कल्पना करता है और शुक्ति रजत आदिकों को अल्पकाल स्थायी कल्पना करता है, क्योंकि स्वप्न ही में शुक्तिरजत के बाध का भी अनुभव कर लेता है, तैसे ही एक ही ब्रह्म की दो प्रकार की सत्ता वाले पदार्थ की कल्पना करता है। इसलिये यहां किसी प्रकार की शंका नहीं होनी चाहिये। अब उक्त अर्थ में आचार्य आपही दृष्टांत को दिखलाते हैं। ( पटस्फटिके प्रथितं मांजिष्ठम् ) जैसे वस्त्र में तथा स्फटिक के कार्य कुंडिका ( पात्रविशेष ) आदिकों में प्रतीत हुआ मंजिष्ठ का लाल रूप परमार्थ से मंजिष्ठ के आवयवों में ही स्थित है तथापि (पटे रक्तः पटः इति ) वस्त्र में यह रक्तपट है इस प्रकार यह ज्ञान ( न मृषा ) मिथ्या नहीं हैं, किन्तु ( साधु ) सत्य ही है। ( स्फाटिके ) और स्फटिक का कार्य कुडिका में ( तत् रक्तः स्फटिकः ) इस प्रकार का ज्ञान ( मृषा ) मिथ्या ही है। इसी प्रकार एक ही सत्ता के बाधाबाध की व्यवस्था जान लेनी चाहिये ॥१३॥

यदि ब्रह्म सन्मात्र है तो सामान्य और विशेषरूप दो अंशों वाले ही अधिष्ठान होने से एक रस निर्विशेष सन्मात्र ब्रह्म अधिष्ठान का संभव नहीं। सब अधिकारी सुख के चाहने वाले होने से ब्रह्मार्थी भी कोई नहीं होगा और ब्रह्म को सच्चिदानंद मानने पर एकरस्य निरवयवत्वादिकों की हानि होगी।

इस प्रकार की शंका का अब समाधान करते हैं—

**सच्चित्सौख्यैकरस्येऽप्यनृत जड महादुःख**

**मोहान्यभावात्सत्यज्ञानादि वाक्य व्यवहृति विषये कल्पिते रूप भेदे। शुक्तीदंतेव सत्ता स्फुरति सम रसाकल्पिते नानुविद्धाशुक्तित्वादीव मायावरण परि भवाच्चित्सुखत्वेन भातः ॥१४॥**

सच्चिदानन्द रूप आत्मा के एक होने पर भी तथा असत्, जड़, महा दुःखरूप मोह से उसके अन्य होने पर भी सत्य ज्ञानादि वाक्यों के व्यवहार में उसका भेद कल्पित है। शुक्ति के 'यह' अंश के समान सत्ता सामान्य अंश भी कल्पित में व्याप्त होकर भासता है। शुक्ति आदि के समान विशेष अंश अज्ञानकृत आवरण से ढका होने से चित् सुख का भान नहीं होता ॥१४॥

(सच्चित्सौख्यैक रस्येऽपि) रस शब्द का अर्थ यहां आत्मा है सत चित और और आनंद तीनों एकात्मक होने पर भी (सत्य-ज्ञानादि वाक्यव्यहृतिविषये रूप भेदे कल्पिते) 'सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों में बोध्य बोधन रूप व्यवहार विषयक सत्यत्व, ज्ञानत्व और आनन्दत्व ये रूपभेद कल्पित हैं अर्थात् ब्रह्मस्वरूप में सत्य, चित् और आनन्द इन तीनों की यद्यपि एकरूपता ही है, तथापि सत्य आदिकों के बोध्य बोधन रूप व्यवहार के अर्थ इनका कल्पित भेद माना गया है, क्योंकि (अनृत जड़ महा दुःख मोहान्यभावात्) असत्, जड़, दुःख रूप मोह से अर्थात् अज्ञान से आत्मा अन्य स्वभाव वाला है। भाव यह है कि सच्चित् आदिक आत्मा के अनेक अंश रूप भेद की कल्पना तो श्रुतियों ने आत्मस्वरूप ब्रह्म में असत जड

आदिकों की निवृत्ति के लिये की है। इस प्रकार कल्पित सत् आदिक अंशों से ब्रह्म में सामान्य विशेष रूप दोनों अंश बन जाने से जगत् की अधिष्ठानता भी संभव है। इस अर्थ कोअब दृष्टांत पूर्वक समझाते हैं ( शुक्तीदन्ता इव ) जैसे शुक्तिगत 'यह' अंश रजत के साथ व्याप्त होता है और रजत रूप होकर 'यह' रजत है इस प्रकार प्रतीत होता है, वैसे ही ( सत्ता कल्पिते नानुविद्धा ) सत्ता अंश भी कल्पित जगत्पदार्थ के साथ व्याप्त होकर ( कल्पितेन समरसा ) कल्पित जगत् के साथ एक रूप होकर (स्फुरति) सत् जगत् के रूप से स्फुरित होती हैं। शुक्ति के सामान्यांश रूप इदम् अंश के दृष्टांत से ब्रह्म रूप अधिष्ठान की सत्ता अंश को सामान्य अंश बतलाया । अब शुक्ति के शुक्तित्व त्रिकोणत्व, नील पृष्टत्वादि रूप विशेष अंश के दृष्टांत से ब्रह्म के चित् और सुखत्व आदि अंश को विशेष अंश रूपता बतलाई जाती है। ( शुक्तित्वादीव ) जैसे अज्ञान से ढकी हुई शुक्ति के शुक्तित्व, त्रिकोणत्व आदिक विशेष अंश प्रतीत नहीं होते तैसे ही ( मायावरण परिभवात् चित्सुखत्वेन भातः ) माया से अर्थात् अज्ञान रूप आवरण से आवृत्त होने पर ब्रह्मात्मा की चित् रूपता तथा आनन्दादि रूपता भी भान नहीं होती। भाव यह है कि ब्रह्म के कल्पित, सामान्य और विशेष अंश के मानने पर किसी प्रकार की भी हानि नहीं होती, ऐसा मानने पर सकल इष्ट अर्थ की सिद्धि ही होती है ॥१४॥

सृष्टि श्रुतियां अधिष्ठान रूप ब्रह्म को तटस्थ लक्षण द्वारा बोधन करती हैं, इस अर्थ में अब दृष्टान्त दिखलाया जाता है—

**पृष्टे कोऽस्मिन्समाजे नरपतिरिति यो मत्त मातंग पृष्ठे मुक्ता जालान्तराले शशि धवल लस-**

**च्छत्रमूले स्फुरन् सः । इत्युक्तः पुंविशेषं सपदि परिचिनोत्येष राजेति सर्वं मुक्त्वैकं येन पश्यन्नमु मपर विधं सैष राजेति वेत्ति ॥१५॥**

इस समाज में राजा कौन है ? ऐसे प्रश्न का उत्तर देते हैं कि मस्त हाथी की पीठ पर मोतीमय चातुष्कोण अंबारी में चन्द्र के समान स्वच्छ शोभायमान छत्र के नीचे बैठा हुआ राजा है। इस प्रकार कहे हुए में सब विशषणों को छोड़कर एक पुरुष विशेष में ही राजा तुरन्त जाना जाता है और इसीसे अन्य लक्षणों से युक्त भी वह यह राजा है ऐसा अन्यकाल में भी जाना जाता है॥१५॥

( अस्मिन् समाजे नरपतिः कः इति पृष्टे ) इस समाज में राजा कौन है, इस प्रकार पूछने पर उत्तरदाता कहता है ( यः मत्त मातंग पृष्टे ) जो मस्त हाथी की पृष्ठ पर ( मुक्ता जालान्तराले ) मुक्तामय चार कोणों वाली गज पृष्ठावलंबी अम्बारी के बीच में ( शशि धवल लसत् छत्रमूले स्फुरन् ) चन्द्रमा के सदृश स्वच्छ और शोभायमान छत्र के नीचे असाधारण वस्त्र, भूषण, मुकुट आदिकों से प्रकाशमान जो व्यक्ति है ( सः ) सो राजा है। ( इत्युक्तः ) इस प्रकार उत्तर पाकर प्रश्न कर्ता ( सर्वं मुक्त्वा ) उक्त सभी विशेषणों को त्यागकर ( एकं पुंविशेषम् ) एक पुरुष विशेष को ( एष राजा इति सपदि परिचिनोति ) यह राजा है इस प्रकार शीघ्र ही जान लेता है। अर्थात् सब विशेषणों से रहित

शुद्ध राजा को जान लेता है। ( येन ) क्योंकि कालान्तर में ( अपरविधं अमुं पश्यन् ) उक्त सर्व लक्षणों से सहित इसको देखकर ( सः एषः ) सोई यह ( राजा इति वेत्ति ) राजा है, इस प्रकार जानता है ॥१५॥

अब उक्त दृष्टांत को दार्ष्टान्त में जोड़ा जाता है—

रथोद्धता छंद।

**वर्णिता विविदिषादि यन्त्रणात् पुंविशेष मिव लक्षणोक्तयः। विश्वसर्ग विषयागमाः परं लक्षयन्ति निरवद्यचिद्घनम् ॥१६॥**

श्रोता की जिज्ञासा के अनुसार पूर्व जो लक्षण वर्णन किये हैं, वे पुरुष विशेष के लक्ष कराने के लिये हैं। तैसे ही जगत् की उत्पत्ति विषय के वेदवाक्य भी माया और उसके कार्य से रहित चैतन्यमूर्ति परब्रह्म के लक्षक हैं ॥१६॥

( विविदिषादि यंत्रणात् ) श्रोता की जिज्ञासा के और वक्ता के तात्पर्य के अनुसार ( वर्णिताः लक्षणोक्तयः ) पूर्व श्लोक में वर्णन किये हुए जो राजा के लक्षण वाक्य हैं वे लक्षण वाक्य ( पुंविशेषमिव ) जैसे पुरुष विशेष के ही लक्षक हैं श्रोता की जिज्ञासा और वक्ता के तात्पर्य के निर्देशक नहीं हैं, परंतु वे लक्षण वाक्य केवल पुरुष व्यक्ति विशेष के ही लक्षक हैं। इसी प्रकार ( विश्व सर्ग विषयागमाः ) जगत् की उत्पत्ति विषयक वेद वाक्य भी ( निरवद्यचिद्घनम् परं लक्षयन्ति ) माया तथा उसके कार्य दोष से रहित चिन्मूर्ति परब्रह्म के ही लक्षक हैं ॥१६॥

उक्त दृष्टांत से सृष्टि को कहने वाले वेद वाक्य उत्पादकत्व, पालकत्व, संहारकत्व, सर्वज्ञत्व आदिक विशेषणों से युक्त किसी सविशेष ईश्वर का लक्ष नहीं कराते परन्तु, ये सब निर्विशेष पर-ब्रह्म के ही लक्षक हैं। बात यही है कि लक्षणा महा वाक्यों के पदों में नहीं होती संपूर्ण वाक्य में लक्षणा होती है, यह दिखलाते हैं--

हरनर्तन छन्द।

**तत्त्वमर्थवदत्र यद्यपि नान्वयानुपपत्ति धीर्नाप्य भिन्न पदार्थकत्व मतः पदेषु न लक्षणा। भेद संगतिकानि तानि समेत्य सत्य चिदद्वयं तत्प-राणि हि लक्षयेयुरुपक्रमाद्यनुसारतः ॥१७॥**

तत् और त्वं पदार्थों के समान यहां सृष्टि वाक्यों में लक्षणा के लिये अवकाश नहीं है, तथा अभिन्न पदार्थकत्व भी नहीं है, इसीसे पद में लक्षणा नहीं है। परस्पर भेद संबंध से वे सब वाक्य मिलकर उपक्रम उपसंहार आदि षट् लिंगों के अनुसार सत् चिद् अद्वय रूप ब्रह्म का ही बोधन करते हैं ॥१७॥

( यद्यपि तत्त्वमर्थवत् ) यद्यपि जैसे तत्त्वमसि महावाक्य में स्थित तत् और त्वं पदार्थों में लक्षणा के लिये स्थान है वैसे ही ( अत्र नान्वयानुपपत्तिधीः ) 'यतो वा इमानि भूतानि जायंते' इत्यादि सृष्टि वाक्यों में भी अन्वयानुपपत्ति लक्षणा के लिये

अवकाश नहीं है। जैसे उक्त महावाक्य में तत्त्वंपद एक अभेद अर्थ वाले हैं वैसे उक्त सृष्टि वाक्य ( नाप्यभिन्न पदार्थकत्वम् ) अभिन्न पदार्थ को नहीं लक्ष कराते। अर्थात् जैसे तत्त्वमसि महावाक्य में तत् और त्वं पदों में पदार्थाभेद बोधक एक विभक्ति है तैसे ही सृष्टि वाक्यों में पदार्थाभेद बोधक एक विभक्ति नहीं है। ( अतः ) इसलिये ( पदेषु लक्षणा न ) यद्यपि पदोंमें लक्षणा नहीं हैं, तथापि ( भेदसंगतिकानि तानि ) उक्त सृष्टि वाक्य भेद संबंध से परस्पर अन्वित हैं और ( समेत्य ) अभिन्न निमित्त उपादान रूप एक कारण के प्रतिपादन द्वारा एक वाक्यता को प्राप्त होकर ( तत्पराणिहि ) 'उपक्रमोपसंहाराभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिंगंतात्पर्य निर्णये॥' इस वाक्य प्रमाण से उपक्रम उपसंहारादिक छः प्रकार के लिंगों के अनुसार अद्वैत अर्थ परायण होकर ( सत्य चिदद्वयम् ) सत, चित् और अद्वय रूप ब्रह्म का ( लक्षयेयुः ) लक्षणा से बोध करते हैं तथा इतना कहने से वाक्य में ही लक्षणा का संभव है, पद में नहीं, यह अर्थ कृतबुद्धि अधिकारी जान लें, यह सूचित करते हैं ॥१७॥

वेद के सृष्टि वचन पुनः पुनः सृष्टि को ही क्यों कह रहे हैं, इस शंकाके निरासार्थ सृष्टि वाक्योंका अब तात्पर्य कहा जाता है--

**अक्षजादि बहिःप्रमाण समेधित द्वय विभ्रमे**
**जाग्रति श्रुतिरद्वय प्रतिबोधने सहसाऽक्षमा।**
**व्यावहारिक वस्तु जातमिदं मृषेति विवक्षया**
**प्रक्रियां रचयां बभूव विसृष्टिसंहृतिलक्षणाम्॥१८**

प्रत्यक्षादि बाहर के प्रमाणों से बढ़े हुए द्वैत भ्रम के सत्यरूप से प्रतीत होने से श्रुति सहज में अद्वय बोध कराने में असमर्थ है, इसलिये वह व्यवहारिक पदार्थ मिथ्या है इस प्रकार कहने की इच्छा से उत्पत्ति प्रलय की प्रक्रिया को कहती है ॥१८॥

( अक्षजादि बहिःप्रमाण समेधित द्वयविभ्रमे ) प्रत्यक्ष आदिक बाह्यार्थ विषयक प्रमाणों से जो द्वैत भ्रम बढ़ा हुआ है वह द्वैत भ्रम ( जाग्रति ) सबकी बुद्धिमें स्फुरण होने पर ( श्रुतिः सहसा अद्वय प्रतिबोधने अक्षमा ) उस समय श्रुति भगवती शीघ्र ही अद्वैत अर्थ का बोध कराने में असमर्थ है। इसलिये ( इदं व्यावहारिक वस्तुजातं मृषा इति विवक्षया ) यह व्यावहारिक वस्तु समूह मिथ्या है इस प्रकार कहने की इच्छा से अर्थात् इस प्रकारके तात्पर्य से श्रुति भगवती ने ( विसृष्टि संहृति लक्षणां प्रक्रियां रचयां बभूव ) उत्पति प्रलय रूप प्रकिया की रचना की है। भावार्थ यह है कि जगत् के मिथ्यात्व बोधन द्वारा रज्जु सर्प न्याय से जगत् ब्रह्मरूप ही है इस प्रकार ब्रह्मके अद्वैत ज्ञान के उपाय रूप से पुनः पुनः श्रुति सृष्टि आदिकों का कथन कर रही है ॥१८॥

उपक्रम उपसंहारादिक षट् लिंगों से तैत्तिरीयोपनिषत की ब्रह्मवल्ली की श्रुतियां अद्वय ब्रह्म की ही बोधक हैं यह अर्थ अब दिखलाते हैं—

**ब्रह्मसच्चिदनन्त मेकमशेष वाङ् मनसातिगं**
**पंचकोश गुहान्तरं च निगद्य शश्वदलौकिकम् ।**
**तद् विसृज्य विवेश सत्यमसत्यमित्युभयं स्वतः**

सत्यमित्यभिधायिनी श्रुतिरद्वयं स्फुटमभ्यधात् ॥१६॥

सत् चित् अनंत ब्रह्म है। वह ब्रह्म अद्वयरूप, मन वाणी का अविषय, पंचकोश रूप गुहा के आन्तर रहा हुआ और नित्य अलौकिक है ऐसा कहा है। उसने सत्य असत्य की रचना की और उसमें वह व्याप्त हुआ। परन्तु ब्रह्म तो स्वयं ही सत्य है, ऐसा कहकर श्रुति उस ब्रह्म का स्पष्ट अद्वयरूप से निर्णय करती है ॥१६॥

उपक्रम में ( सच्चित् अनंतं ब्रह्म ) ब्रह्म सत् चित् सर्व भेद रहित है, इस प्रकार कथन किया है और अंत में ( एकं अशेष वांङ्मनसातिगम् ) वह ब्रह्म सर्व भेद से रहित होने से एक है अर्थात् अद्वय रूप है तथा सर्व लौकिक और वैदिक वचनों का तथा सर्व प्राणिओं के मनका अविषय है इस प्रकार कथन किया है। फिर मध्य में ( पंचकोश गुहान्तरम् ) अन्नमय प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय रूप पांच कोश रूप गुहा के अंतर स्थित है तथा ( शश्वत् ) शाश्वत है अर्थात् निरंतर है ( निगद्य ) प्रत्येक कोश रूप गुहा के मध्य में सर्व कोशों का अधिष्ठान होने से स्थित है इस प्रकार अभ्यास पूर्वक कथन करके फिर ( अलौकिकम् ) प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों से वह ब्रह्म जाना नहीं जा सकता किंतु केवल उपनिषत् से ही उसका जान सकते हैं इस प्रकार कथन किया है। फिर ( तत्सत्यं असत्यं विसृज्य ) वह ब्रह्म सत्य मिथ्या रूप जगत् को रच करके अर्थात् अग्नि, जल, पृथिवी रूप सत्य जगत को

तथा आकाश वायु रूप असत्य जगत् को रचकर तथा इन भूतोंके समुदाय रूप परन्तु भूतों से विलक्षण आकृती वाले इस शरीर रूप जगत् को रच करके फिर ( इत्युभयं विवेश ) उक्त सत्य मिथ्या रूप जगत को स्वसत्ता प्रदान करके उसमें व्याप्त हुआ अर्थात् यह जगत स्वाधिष्ठान रूप ब्रह्म की सत्य से सत्य है और ( स्वतः सत्यम् ) ब्रह्म स्वतः ही अर्थात् स्वभाविक ही सत्य है ( इति अभिधायिनी श्रुतिः ) इस प्रकार कथन करने वाली तैत्तिरीयोपनिषत् की ब्रह्मवल्ली श्रुति ( स्फुटं अद्वयं अभ्यधात् ) स्पष्ट ही अद्वय रूप ब्रह्म का निर्णय करती है ॥१९॥

अब सृष्टि वाक्यों का तात्पर्य अद्वय ब्रह्म ही में है यही बात अन्य रीति से दिखाते हैं—

**ब्रह्मवित्परमेति तत्खलु सच्चिदद्वय लक्षणं**
**वेदनं च गुहांतरस्य निजस्वरूप तदाप्तये ।**
**इत्युदीर्य सदद्वयत्व समर्थनाय समाददे विश्व**
**सृष्टिमिमां श्रुतिर्नहि तत् समर्थनमन्यथा ॥२०॥**

ब्रह्मज्ञानी मोक्ष को प्राप्त होता है । वह ब्रह्म नित्य चैतन्य अद्वयरूप है, बुद्धिरूप गुहा के आन्तर प्रत्यगात्मारूप ब्रह्म की प्राप्ति के लिये उसका ज्ञान ही हेतु है ऐसा कह कर सत्य और अद्वय ब्रह्म के निरूपण के लिये श्रुति इस जगत् की उत्पत्ति आदि की प्रक्रिया को ग्रहण करती है, क्योंकि अन्यथा उसका समर्थन नहीं होता ॥२०॥

(ब्रह्मवित् ) ब्रह्मज्ञानी ( परं एति ) मोक्ष को प्राप्त होता है ( तत्खलु सत् चित् अद्वय लक्षणम् ) और मोक्षस्वरूप ब्रह्म नित्य चेतन अद्वैत रूप है। (वेदनं च गुहान्तरस्य निज स्वरूप तदाप्तये) इस प्रकार साक्षी रूप बुद्धि रूप गुहा के अंतर्गत प्रत्यक् साक्षी आत्मा का ज्ञान निज स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ती के लिये है, ( इत्युदीर्य ) इस प्रकार कहकर श्रुति भगवती फिर स्वोक्त ( सदद्वयत्व समर्थनाय) सत्यत्व और अद्वयत्व के निरूपण के अर्थ ( इमां विश्वसृष्टिम् ) इस जगत् की उत्पत्ति प्रक्रिया को ( समाददे ) ग्रहण करती है अर्थात् कहती है ( हि ) क्योंकि ( अन्यथा ) अन्य प्रकार से ( तत्समर्थनम् न ) निरपेक्ष सत्यत्व आदि का समर्थन नहीं हो सकता ॥२०॥

अब ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषत् का तात्पर्य भी अद्वयरूप ब्रह्म ही है यह दिखलाया जाता है—

**एक एव पुरा बभूव न चापरं स किलाखिलं**
**वीक्ष्य विश्वमिदं ससर्ज तनुं प्रविश्य निरीक्षते ।**
**स्वप्नमावसथत्रयं स विचारतः प्रतिबुद्धवान्**
**स्वात्मनैव समस्त काममवाप्नुवन्नमृतोऽ-**
**भवत् ॥२१॥**

सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व एक आत्मा ही था अन्य कुछ भी नहीं था। उसने विचार कर सब जगत् को रचा, शरीर में प्रवेश किया और वह तीनों अवस्था को स्वप्नवत्

देखता है और बोधरूप जाग्रत की प्राप्ति में अपने स्वरूप से सब कामनाओं को प्राप्त हुआ मरण से रहित होता है ॥२१॥

( एक एव पुरा बभूव ) सृष्टि की उत्पत्ति के पहिले सजातीय विजातीय वर्जित एक आत्मा ही था ( न चापरं ) और कुछ भी न था अर्थात् प्रकृत आत्मासे विलक्षण कुछ भी और न था इतने कहने से 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किंचन मिषत्' इस श्रुति वचनके अर्थ का संग्रह किया गया जान लेना। ( स किलाखिलं वीक्ष्य विश्वमिदं ससर्ज ) 'यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह । य चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते ॥' इस स्मृति के अनुसार आत्मा ने सर्व जगत् को देख करके अर्थात् इस प्रकार इस जगत् को रचना चाहिये इस प्रकार माया से चिन्तन करके जगत् की रचना की। इतने कहने से सृष्टिकर्ता आत्मा को चेतनरूपता दृढ़ की गई, क्योंकि ईक्षण जड़ में असंभव है। उस रचना के पश्चात् ( तनु प्रविश्य ) प्रत्यक् आत्मरूप से शरीर में प्रवेश करके वह ब्रह्मात्मा ही ( अवस्थात्रयं ) नेत्र कंठ हृदय रूप तीनों स्थानरूप अर्थात् तीनों जाग्रत् आदिक अवस्थारूप ( स्वप्नम् ) स्वप्न को ( निरीक्षते ) देखता है। भाव यह है कि स्वप्न के सदृश ही उसकी तीनों अवस्था मिथ्या हैं। ( सविचारतः ) यह शरीरोपाधि वाला आत्मा दैवगति से गुरु उपदिष्ट विचार द्वारा ( प्रतिबुद्धवान् ) चिन्मात्र आत्म स्वरूप मैं हूँ, इस प्रकार के ज्ञान से जाग्रत अवस्था को प्राप्त होकर ( आत्मनैव ) सब सुख को ब्रह्मानंद के अन्तर्गत होने से स्वस्वरूप से ही ( समस्तकामम् ) सर्व कामनाओं को अर्थात् सर्व ही सुखों को ( प्राप्नुवन् ) प्राप्त होता

हुआ अर्थात् उसकी सर्व कामनाओं की निवृत्ति होकर ( अमृतः अभवत् ) वह मरण से रहित होजाता है। इस प्रकार कहते हुए ऐतरेयोपनिषत् का स्पष्टतया अद्वैत ब्रह्म में ही तात्पर्य है ॥२१॥

अब बृहदारण्यकोपनिषत् का भी अद्वैत ब्रह्म में ही तात्पर्य है यह अर्थ दिखलाया जाता है—

**स्थूल सूक्ष्मविभागिमूर्तममूर्तमित्यखिलं जगत् ब्रह्मणो द्विविधं हि रूपमिति प्रकल्प्य विभागतः। आदिशन्त्यथ नेति नेति निषिध्यरूपमशेषतः काण्ववाजसनेयक श्रुतिरप्यशेषयदद्वयम् ॥२२॥**

काण्व और वाजसनेय श्रुति स्थूल सूक्ष्म विभाग करके मूर्त और अमूर्त संपूर्ण प्रकार का जगत् ब्रह्म का ही स्वरूप है ऐसे विभाग की कल्पना करती है। फिर आगे 'यह नहीं यह नहीं' कहकर निषेध करके निषेध की अवधि रूप अद्वय ब्रह्म का उपदेश करती है ॥२२॥

बृहदारण्यकोपनिषत् के मूर्तामूर्त ब्राह्मण के 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' इस वाक्य में पृथिवी, जल और अग्नि यह तीनों स्थूल भूत मूर्त शब्द का अर्थ है और वायु आकाश यह दोनों सूक्ष्म भूत अमूर्त शब्द का अर्थ है। ( इतिकाण्ववाज सनेयक श्रुतिः अपि अखिलं जगत् ) इस प्रकार काण्वशाखा की तथा माध्यन्दिन शाखा की श्रुति मूर्त तथा अमूर्त इस स्थूल

सूक्ष्म के सहित यह सर्व ही जगत् ( ब्रह्मणो द्विविधं रूपम् ) ब्रह्म का ही दो प्रकार का रूप है इस विभाग से ( प्रकल्प्य ) अध्यारोप करके अर्थात् वस्तु में अवस्तु की कल्पना रूप अध्यारोप करके ( अथ ) मूर्तामूर्त विभाग कल्पना के अनंतर ( नेति नेति ) यह नहीं, यह नहीं, इस प्रकार बार बार कह कर ( अशेषतः ) संपूर्ण रीति से ( रूपम् ) मूर्तामूर्त लक्षण दोनों प्रकार के रूपका ( निषिध्य ) निषेध करके ( आदिशन्ती ) मूर्तामूर्त, तद्वासनात्मक अविद्या और तत्कार्य रूप सर्व आरोप के निषेध के अवधी रूप अधिष्ठान ब्रह्मचिन्मात्र का उपदेश करती हुई ( अद्वयं अशेषयत ) ब्रह्म की अद्वैत रूपता ही शेष रखती है ॥२२॥

अब सामवेद के छांदोग्योपनिषत का भी अद्वैत चिन्मात्र ब्रह्म में ही तात्पर्य है यह अर्थ दिखलाया जाता है—

**यत्प्रबोधवशादशेषमिदं जगद्विदितं भवेत्**
**तद्विवक्तुमुपक्रमोऽत्र सदेव सोम्य गिरा ततः ।**
**सृष्टिरीक्षण पूर्विका जगतस्तदैक्य विवक्षया**
**मृत्तिकादि निदर्शनानि तथाहि संगति माप्नुयुः ॥२३॥**

जिसके बोध से संपूर्ण जगत् जाना जाता है, जिसको कहने के लिये श्रुति में, 'हे सोम्य, यह उत्पत्ति के प्रथम सतरूप ही था' इस वाक्य से उपक्रम करके ईक्षणापूर्वक जगत् की उत्पत्ति कही है, जगत् की उस ब्रह्म के साथ

एकता प्रतिपादन करने की इच्छा से ही मृत्तिका पिंड आदि दृष्टांत दिये हैं और इसी प्रकार श्रुति का समन्वय होता है ॥२३॥

( यत् प्रबोध वशात् इदं अशेषं जगत् विदितं भवेत ) जिसके ज्ञान से यह सर्व ही जगत् जाना जाता है ( तत् विवक्तुः ) उस के कहने के लिये ( अत्र ) छांदोग्योपनिषत् के छठे अध्याय में ( सदेव सोम्य गिरा उपक्रमः ) हे सोम्य श्वेतकेतो, यह नाम रूपात्मक जगत् उत्पत्ति से पहले सत् शब्द वाच्य अव्याकृतात्मक ईश्वर रूप ही था, सजातीय विजातीय और स्वगत भेद रहित एक ही अद्वय ब्रह्म था इस वाक्य से आरंभ है ( तत ) इसलिये ( ईक्षण पूर्विका जगतः सृष्टिः ) 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादि वचन से ज्ञानपूर्वक जगत् की उत्पत्ति तथा 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतंमतमविज्ञातं विज्ञातम्' इस वचन से प्रतिज्ञात ( तदैक्य विवक्षया ) उस ब्रह्म के अद्वैत विवक्षा से 'यथा सोम्येकेन मृत्पिंडेन सर्वं मृन्मयं विज्ञात स्यात् वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्.' 'यथा सोम्यैकेन नखनिकृंतनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातँ स्यात् वाचारंभ० कृष्णाय समित्येवसत्यमित्येवँ सोम्य स आदेशो भवति ।' इन वचनों से कहे हुए ( मृत्तिकादि निदर्शनानि ) मृतपिंड आदि दृष्टांत (तथाहि) उन उक्त श्रुतिओं के समान ( संगतिं आप्नुयुः ) दार्ष्टान्त के साथ समन्वय को प्राप्त होते हैं ॥२३॥

छांदोग्योपनिषत् का यही तात्पर्य है यह छांदोग्योपनिषत् में आगे के ग्रंथ भाग के विचार करने से सिद्ध है अर्थात् सृष्टि वचनों का अद्वैत में ही तात्पर्य है यह अर्थ सिद्ध होता है, इस

बात को ही अ' । छांदोग्य के अग्रिम ग्रंथ के वाक्यार्थ संग्राहक श्लोक से दिख लाया जाता है—

**सत्प्रसूत मिदं सति स्थितमस्तमेति सति स्वतः सत्तया परिहीणमित्यखिलं सदेव पृथङ् मृषा। कल्पितं हि पृथक् न सन् मृगतृष्णिकोदकवन्मरोस्तत् सदद्वय मेव वस्त्विति सृष्टि वाक्य-समीहितम् ॥२४॥**

यह जगत् सत्रूप से ही उत्पन्न हुआ है, सत् में स्थित है और सत् में लय होता है इससे अपनी सत्ता से रहित है। सब सत् है इससे भिन्न मिथ्या है, कल्पित पृथक् नहीं होता। मरुभूमि में रहा हुआ मृगतृष्णाका जल पृथ्वी से भिन्न नहीं होता तैसे जगत् पृथक् नहीं है, सत्रूप अद्वैत ब्रह्म ही है। यही सृष्टि प्रतिपादन वाक्य का तात्पर्य है ॥२४॥

( सत्प्रसूतम् इदम् ) यह जगत सतरूप ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है, ( सति स्थितं ) सत् रूप ब्रह्म में ही स्थित है और ( सति अस्तं एति ) सत् रूप ब्रह्म में ही लय को प्राप्त होता है। अतएव ( स्वतः सत्तया परिहीणम् ) यह जगत् कारण भूत ब्रह्म की सत्ता से भिन्न अपनी स्वतंत्र सत्ता से रहित है। ( इति अखिलं सत् एव ) इसी लिये अर्थात् स्वतः

सत्ता ही न होने से यह सर्व जगत् कारणभूत सत् ब्रह्म स्वरूप ही है। (पृथक् मृषा) कारणीभूत ब्रह्म से पृथक् मिथ्या है। मिथ्याभूत वस्तु अपने अधिष्ठानरूप कारण से भिन्न नहीं होती इस बात को स्पष्ट करने के लिये मिथ्या का दृष्टांत दिया जाता है। (कल्पितंहि पृथक् न सत् मृग तृष्णिकोदकवत् मरोः) जैसे सूर्य संतप्त निरुदक मरुभूमि से मृगतृष्णा का जल पृथक् नहीं है तैसे ही, कल्पित जगत् भी सत् ब्रह्म से पृथक् नहीं है किंतु सत् ब्रह्म रूप ही है, क्योंकि कल्पित की अधिष्ठान से पृथक् सत्ता नहीं होती। (तत्) इसलिये अर्थात् कल्पित वस्तु के अधिष्ठान स्वरूप होने से ही (सत् वस्तु अद्वय एव) सत् रूप ब्रह्म अद्वैत रूप ही है (इति सृष्टि वाक्य समीहितम्) यह सृष्टि प्रतिपादक वाक्यों का तात्पर्य है ॥२४॥

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्र-मवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम् ॥ नित्यं विभुं सर्वं गतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूत योनिं परिपश्यंति धीराः। यथोर्णा नाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवंति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात संभवंतीह विश्वम् ॥

इन अथर्वण वेद के मुण्डकोपनिषत् के सृष्टि वाक्यों का भी अद्वैत रूप ब्रह्म में ही तात्पर्य है यह अब दिखलाया जाता है--

**विद्यया परयाऽधिगम्यमुदीर्य धर्म विवर्जितं**
**सूक्ष्ममक्षरतस्ततः प्रभवत्यशेषजगन्मृषा ।**
**तद्धि सत्यमिति स्फुटं परिशेष्यवेदनमात्रतस्त-**
**स्त्वयं भवतीति नित्यमवाप्तमाह तुरीयगीः ॥२५**

सब धर्मों से रहित अति सूक्ष्म परब्रह्म, परविद्या करके जानने के योग्य है। अक्षर से ही यह उत्पन्न होता है, इसलिये सर्व जगत् मिथ्या है, वह ही सत्य है, ऐसा श्रुति अद्वैत ब्रह्म का ही स्पष्ट कथन करती है। अपने स्वरूप के ज्ञान से वह अपने को नित्य प्राप्त है, इस प्रकार चारों वेदों का कथन है ॥२५॥

(सर्व धर्म विवर्जितं सु सूक्ष्मं परया विद्यया अधिगम्यं उदीर्य) सर्व धर्मों से रहित अर्थात् दृश्यत्व आदि सर्व धर्मों से रहित तथा स्थूलत्व के हेतु भूत शब्द आदि गुणों से रहित होने से अति सूक्ष्म रूप पर ब्रह्म पर विद्या से जाना जा सकता है इस प्रकार अथर्वणोपनिषत् के उपक्रम में ही कहकर फिर (अक्षरतस्ततः प्रभवति) निर्विकार ज्ञेय रूप परब्रह्म से ही यह सर्व जगत् उत्पन्न होता है यह उर्णनाभि आदि अनेक दृष्टांतों से कहा है इसलिये सर्व जगत् (मृषा) मिथ्या है यह अर्थ उक्त पृथवी औषधि आदि दृष्टांतों से ही स्पष्टतर प्रतीत होता है। अतएव (तद् हि सत्यम्) सर्व कल्पित जगत् का अधिष्ठान रूप से जानने योग्य ब्रह्म ही एक सत् है (इतिस्फुटं परिशेष्य) इस प्रकार सब के अपवादद्वारा निषेध का अवधिरूप अधिष्ठान ब्रह्ममात्रको परिशेषतया निरूपण किया है अर्थात् एक अद्वैत ब्रह्म ही शेष रहता है ऐसा कहा है। वही अद्वैत चिन्मात्र परमानंद और सत् रूप ब्रह्म अपना स्वरूप है परन्तु केवल अज्ञान से कर्णमहाराज के क्षत्रियत्व के समान अथवा ग्रहाविष्ट किसी ब्राह्मण के ब्राह्मणत्व के सदृश, अथवा व्याध कुलवर्द्धित क्षत्रिकुमार के राजत्व के सदृश अथवा ग्रामीण कुलवर्द्धित सिंह

शावक के सिंहत्व के तथा कंठ गत अलंकार के सदृश अप्राप्त की तरह हुआ है। इसलिये ( वेदनमात्रतः तत् स्वयंनित्यं अवाप्तं भवति इति तुरीयगीः आह ) अपने स्वरूप के ज्ञान मात्र से वह आपही अपने को नित्य प्राप्त है इस प्रकार चारों वेदों की वाणी अर्थात् महावाक्य स्वरूप भूत ब्रह्म ही को कह रहे हैं। अर्थात् अद्वैत स्वरूप ब्रह्म में ही चारों वेदों का तात्पर्य है ॥२५॥

अथर्वणवेद के माण्डूक्योपनिषत् का भी अद्वैतरूप ब्रह्म में ही तात्पर्य है चारब्रह्मके पाद हैं, चार ॐकार के पादहैं अथवा चार आत्मा के पाद हैं इसप्रकार द्वैतके प्रतिपादनमें तात्पर्य नहीं है क्योंकि ॐकार ब्रह्म का वाचक है और वाच्यवाचक का अभेद ही होता है यह लोक में प्रसिद्ध है इसलिये ॐकार की ब्रह्मबुद्धि से अहंग्रह उपासना करे इस तात्पर्य से सर्व चराचर प्रपंच को 'सर्वमोंकार एव' सब ॐकार रूप ही बतलाया है। अनंतर उक्त उपासना को स्पष्ट करने के लिये चार २ पादों की कल्पना की है। फिर चतुर्थ पाद का स्वरूप गुह्य तात्पर्य से ( नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिंत्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शांतं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यते स आत्मा स विज्ञेयः ) इस प्रकार अद्वैत शिव स्वरूप बतला कर अंत में ( प्रपंचोपशमः शिवोऽद्वैतः ) इस प्रकार मात्राविभाग का निषेध करके अद्वैत शिव स्वरूपता का ही उपदेश किया है। इसलिये मांडूक्य उपनिषत् का भी अद्वैत में तात्पर्य है द्वैत में नहीं, इस अर्थ को दिखलाया जाता है—

भूत भाविभवज्जगत्परमं च सत् प्रणवात्मकं

पादशः प्रविभज्य निह्नुत वाच्यवाचकभेदकम्।
पूर्वं पूर्वं मथोत्तरत्र विलाप्य तुर्यमलक्षणं स्वात्म
रूपमथर्वणः श्रुतिरभ्यधाच्छिवमद्वयम् ॥२६॥

भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल का जगत् परम सत् है। प्रणव के पाद विभाग करके तथा पूर्व पूर्वका उत्तर उत्तर में लय करके वाच्य वाचक भेद रहित चौथा पाद रूप स्वात्मस्वरूप, लक्षण हीन और अद्वय शिव स्वरूप ब्रह्म है ऐसा अथर्ववेद की श्रुतिका कथन है ॥२६॥

( भूत भाविभवत् जगत ) भूत, भविष्यत और वर्तमान कालिक सर्व चराचर जगत ( परमं सत् ) वाच्यवाचक भेद से रहित सर्व से उत्कृष्ट कारण सत्रूप ॐकार रूप है यह अद्वैत प्रतिपादक अर्थ माण्डूक्य के आरंभ में 'सर्वंह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म' इस वचन से स्पष्ट कहा है। अर्थात् सर्व भूत भविष्यत् आदि काल में होने वाले सर्व जगत् को तथा भूत आदि सर्व काल को ॐकार स्वरूप कहा है और ॐकाराभिन्न सर्व जगत् को सत्य ज्ञान अनंत रूप ब्रह्म कारण से अभिन्न कहा है तथा अहं प्रत्यय गोचर प्रत्यगात्मा को ब्रह्म से अभिन्न कहा है इस प्रकार आदि ही में अद्वैत का कथन है। और इसके अनन्तर ( प्रणवात्मकं पादशः विभज्य ) प्रणवरूप ब्रह्म के तथा आत्मा के तथा ॐकार के चार चार पाद भिन्न करके कहे हैं। अर्थात् विराट, सूत्रात्मा, ईश्वर और तुरीय ब्रह्म ये चार पाद ब्रह्म के हैं। विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय ये चार पाद आत्मा के हैं और अकार, उकार, मकार और अमात्र ये चार पाद प्रणव के

हैं। इस प्रकार प्रणव का पाद विभाग मध्य में कहा है। इस विभाग के अनंतर ( पूर्वपूर्वं अथ उत्तरत्र विलाप्य ) पूर्व २ पाद का उत्तर २ पाद में एकीकरण रूप लय कहा है। अर्थात् विश्व का विराट से अभेद करके विश्व विराट का अकार से अभेद किया है। तैजस का सूत्रात्मा से अभेद करके तैजस सूत्रात्मा का उकार से अभेद किया है। प्राज्ञ का सर्व कारण और सर्वज्ञ ईश्वर से अभेद करके प्राज्ञ ईश्वर का मकार से अभेद कहा है। इस प्रकार पूर्व पूर्व पाद का उत्तर उत्तर पाद में अभेद लय रूप अंग उपासना को कह कर अनंतर ( निन्हुत वाच्यवाचकभेदकं तुर्यं अलक्षणं शिवं अद्वयं स्वात्मस्वरूपं अथर्वणः श्रुतिः अभ्यधात् ) वाच्यवाचक भेद से रहित अर्थात् अकार उकार आदिक मात्राओं से रहित जो ॐकार रूप प्रणव है वही तुर्य स्वात्म स्वरूप है वह आत्मा अलक्षण है लक्षणहीन है अर्थात् अननुमेय है, अद्वय है अर्थात् प्रपंचोपशम है तथा शिव स्वरूप है अर्थात् परमानंद स्वरूप नित्य कल्याण एक स्वरूप है। इस प्रकार अथर्वण वेद की माण्डूक्योपनिषत् श्रुति कहती है ॥२६॥

इसी प्रकार और उपनिषदों का भी अद्वैत चिन्मात्र परमानंद मूर्ति ब्रह्म में ही तात्पर्य है, द्वैत में नहीं, इस बात को कहते हुए पूर्व ग्रंथ में कहे हुए तटस्थ लक्षण का अब फल दिखलाया जाता है—

**इत्थमेव ततस्ततः श्रुत सृष्टिवाक्य कदम्बकं**
**प्रक्रियाद्यभिशीलनेन सदद्वयेन समानयेत् ।**
**युक्तिभिः श्रुतिभिश्च सैष तटस्थलक्षण संग्रहः**
**तत्फले खलु लक्ष्य सत्त्वपरिच्छिदा त्रयवारणे ॥ २७**

पूर्व प्रकार से ही श्रवण किये जो जो सृष्टि प्रतिपादक वाक्य समूह हैं उनकी प्रक्रिया के विचार से, युक्ति और श्रुति से भी उन सबका सत् अद्वैत ब्रह्म में समन्वय करे। पूर्व कहे तटस्थ लक्षणों का संक्षेप इतना ही है। इसके निश्चय के दो फल हैं। एक लक्ष्यभूत ब्रह्मका सत्व है दूसरा भेद का निवारण है ॥२७॥

( इत्थं एव ) इस पूर्व उक्त प्रकार से ही ( ततः ततः ) उन उन उपनिषदों में ( श्रुति सृष्टि वाक्य कदंबकम् ) जो सृष्टि प्रतिपादक वाक्यों का समूह सुनने में आता है उस सृष्टिवाक्य समूह को ( प्रकियादि अभिशीलनेन ) प्रकरणों के उपक्रम उपसंहार आदिक विचार द्वारा तथा ( युक्तिभिः ) पूर्व आचार्यों की कही हुई युक्तियों द्वारा अर्थात् भेद बालगोपाल अंगना अजापाल पर्यंत सर्व को ही प्रत्यक्ष है अर्थात् ज्ञात है इसलिये सर्व ज्ञाता भेद में ही यदि वेद वचनों के बोध में समन्वय होगा तो वेद वचनों को अप्रमाणता ही प्राप्त होगी क्योंकि अबाधित अज्ञात अर्थ का बोधक वाक्य ही प्रमाण माना जाता है। इत्यादि रूप पूर्व वेदांताचार्यों द्वारा कही हुई युक्तियों से तथा ( श्रुतिभिश्च ) 'मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्। मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम् ॥' इत्यादि अन्य श्रुतियों से ( सद् अद्वयेन समानयेत् ) सत और अद्वैत रूप में ही समन्वय करे अर्थात् सर्व वेदांत वाक्यों का अद्वैत रूप ब्रह्म में ही तात्पर्य है इस प्रकार से जहां तहां श्रुत सृष्टि वाक्यों का समन्वय करे। ( स तटस्थ लक्षण संग्रहः एषः ) पूर्व उक्त तटस्थ लक्षण का संक्षेप इतना ही है। ( तत्फले ) इस तटस्थ लक्षण के ( खलु )

निश्चय ही दो फल हैं। ( लक्ष्य सत्त्व परिच्छिदा त्रयवारणे ) एक तो लक्ष्य भूत ब्रह्म के सत्त्व का निश्चय यह फल है और उस ब्रह्म में देशकाल वस्तु कृत तीनों प्रकार के अभाव का निश्चय यह दूसरा फल है ॥२७॥

अब तटस्थ लक्षणके फलभूत स्वरूप लक्षण को दिखाते हैं—

**सच्चिदद्वय सौख्यरूपममुष्य वास्तव लक्षणं**
**नानृतेऽस्फुरणेऽसुखे पुरुषार्थतेति तदात्मता ।**
**वारणीयविधाप्रकल्पित भेदलक्ष्यपदैः पदैर्न-**
**करस्य हतिस्तथैव हि साधु पूर्वमवादिषम ॥२८॥**

आत्म स्वरूप होने से ब्रह्म का सत्य ज्ञान आनन्द रूप लक्षण है, असत, जड दुःख रूप पदार्थ में पुरुषार्थ नहीं है इसीसे ब्रह्म को सत आदि रूप कहा है। निषेध करने योग्य जो असत्य आदि भेद करके कल्पित है इससे असत्य आदि पदों की सत्यादि पदोंसे एक रसता की हानी नहीं है जैसा हम पहले भली प्रकार से ( श्लोक १४ में ) बता चुके हैं ॥२८॥

( अमुष्य सच्चिद् अद्वय सौख्य रूप वास्तवलक्षणम ) आत्म स्वरूप होने से विद्वत प्रत्ययरूप इस ब्रह्म का सत्य, ज्ञान, अनंत और आनंदरूप स्वरूप लक्षण है, क्योंकि ( अनृते अस्फुरणे असुखे पुरुषार्थता न ) सत्य से तथा सुख से भिन्न वस्तु में अर्थात असत्य, जड़ तथा दुःखरूप पदार्थ में पुरुषार्थता अर्थात

पुरुष की अभिलाषा नहीं होती। ( इति तदात्मता ) इस कारण से श्रुति ने ब्रह्म को सच्चिदानंद स्वरूप कहा है। भाव यह है कि सत्य आदिक पद स्वस्व विरुद्ध असत्यत्व जड़त्व आदिकों के निषेध द्वारा भी स्वलक्ष्य रूप सत् ब्रह्म में पर्यवसानवाले हैं। यदि कोई कहे कि सत्यत्वादिक अनेक होने से सच्चिदानंद ब्रह्म की एकरसता भंग होगी तो उसका उत्तर देते हैं कि (वारणीयविधा प्रकल्पित भेदलब्धपदैः पदैः न एकरस्य हतिः ) निषेध करने योग्य असत्य आदिक प्रकारके भेद कल्पित हैं जो भेद कल्पित हैं उन भेद वाले सत्यत्वादिक पद हैं और असत्यत्व जड़त्व आदिक निषेध्यों में उन कल्पित भेदों से उन सत्यादिक पदों को अवकाश मिला है इसलिये उन सत्य आदिक पदों से ब्रह्म की एकरसता की हानि नहीं होती, ( हि ) क्योंकि ( तथैव साधु पूर्वं अवादिषम् ) ऐसा ही हमने सम्यक् रूप से पूर्व चतुर्दश श्लोकों में कहा है ॥२८॥

अब ब्रह्म की सत् चित् आनन्दरूपता यथा क्रम से तीन श्लोकों में श्रुतियों के अर्थ के संग्रहपूर्वक सिद्ध की जाती है। वहां प्रथम युक्ति से तथा अर्थ संगृहीत श्रुति से ब्रह्म की सत्य-रूपता सिद्ध की जाती है—

स्रग्धरा छन्द ।

**सत्यत्वं तस्य सौक्ष्म्यान्नभस इव जगन्नीलिमा-धार भावादव्यावृत्तेरवृत्तेरखिल दृशितया सर्व बाधावधित्वात् । निःसंगत्वाविरोधात् सकलगत तयाऽऽत्मत्वतः साक्षिभावादन्य द्रष्टुर्निषेधात**

स्फुटवचनशतैः स्वानुभूत्या च सिद्धम् ॥२६॥

अत्यन्त सूक्ष्म होने से वह ब्रह्म सत्य है, जैसे आकाश मिथ्या नीलत्व का आधार होने से सत्य है तैसे मिथ्या रूप जगत नीलता का वह आधार होने से सत्य है। व्यावृत्ति रहित और निवृत्तिक है, आधेय नहीं है, सब पदार्थों का परम द्रष्टा है और सब बाध का अवधि है। निःसंगता का सत्य से विरोध नहीं है। इसलिये सर्व गत होने से ब्रह्म नित्य है, सब कालादि का आत्मा है। साक्षी होने से उससे अन्य द्रष्टा का निषेध है तथा ऐसे अन्य सैकड़ों स्पष्ट श्रुति वचन हैं और अनुभव से भी सिद्ध है ॥२६॥

( तस्य सत्यत्वं सिद्धम् ) उस ब्रह्म की सत्यरूपता इन हेतुओं से सिद्ध है। वे हेतु ये हैं—( सौक्ष्म्यात ) वह सूक्ष्म है इसलिये भाव यह है कि जैसे कारण रूपता की विश्रांति सत् रूप ब्रह्म में ही है तैसे ही सूक्ष्म भाव की विश्रांति भी सत रूप ब्रह्म में ही है; क्योंकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध वाली वस्तु स्थूल कही जाती है और वह उत्पत्ति वाली भी अवश्य ही होती है, अतएव अनित्य होती है। ब्रह्म को वेद में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध से रहित लिखा है अतः वह सूक्ष्म है तथा अनादि है और अनादि होने से ही नित्य है। ( नभसः नीलिमा आधार भावात इव ) जैसे आकाश मिथ्यारूप नीलत्व का आधार होने से सत्य है तैसे ही ब्रह्म भी मिथ्या जगत् का अधिष्टान होने से

सत्य ही है। यदि कोई वादी ब्रह्म को भी असत्य कहेगा तो सो वादी 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इत्यादिक श्रुतियों से ब्रह्म को ही आत्मत्व होने से स्वानुभव विरुद्ध अपना ही असत्त्व कहेगा और आगे अधिष्ठान की अपेक्षा होने से अनवस्था दोष को भी अवश्यही प्राप्त होवेगा क्योंकि निरधिष्ठान असत्य भ्रांति सिद्ध नहीं होती। ( अव्यावृत्तेः ) जो पदार्थ परस्पर व्यावृत्ति स्वभाव वाले होते हैं सो अनित्य ही होते हैं जैसे रज्जु में सर्प, दंड, माला, भूदरार, जलधारा आदिक पदार्थ परस्पर व्यभिचारी होने से अर्थात् परस्पर व्यावृत्ति वाले होने से अनित्य ही हैं और रज्जु अनुगत होने से नित्य हैं ऐसे ही मृत्तिका और घट, घटिका, शराव आदिकों का दृष्टांत भी जान लेना। तैसे ही ब्रह्म भी एक होने से तथा सर्व कल्पित प्रपंच का अधिष्ठान होने से व्यावृत्ति धर्म वाला नहीं है अर्थात् व्यभिचार धर्म वाला नहीं है, अतः नित्य है। ( अवृत्तेः ) ब्रह्म की कहीं भी वृत्ति नहीं है, अर्थात् वह विशिष्टरूप से कभी वर्तने वाला नहीं है। भाव यह है कि ब्रह्म आधेयता से रहित है और इसी कारण ब्रह्म नित्य है। जिस २ पदार्थ में आधेयता धर्म होता है उस पदार्थ में असत्यता भी देखी जाती है जैसे रज्जु सर्प आदिक में देखा जाता है। ( अखिल दृशितया ) ब्रह्म सर्व पदार्थजात का द्रष्टा है इस कारण से भी वह सत्य है, क्योंकि दृश्यरूप घटादि पदार्थ अनित्य हैं यह सबका अनुभव है। आकाश तथा चारों भूतों के परमाणुओं की नित्यता का वादिओं का कथन श्रुति से बाधित है, क्योंकि श्रुति में आत्मा में भिन्न सबको मिथ्या बतलाया है जैसे 'अतोऽन्यदार्त्तम्' (सर्वबाधावधित्वात्) और सर्व बाध का अवधि ब्रह्म ही है, अन्यथा अनवस्था दोष प्राप्त होगा। तहां 'नासीदस्तिभविष्यति' अर्थात् न था, न है और न होगा

इस निश्चय रूप बाध की अवधि रूप ब्रह्म रज्जु, शुक्ति, आकाश, चन्द्रमा आदि के सदृश नित्य ही है। ( निःसंगत्वा विरोधात् ) ब्रह्म गत निःसंगता का सत्यरूपता के साथ कोई भी विरोध नहीं है। अर्थ यह है, जैसे नीलत्व आदि कल्पित होने से असंग आकाश आदिक सत्य हैं तैसे ही प्रपंच कल्पित होने से असंग ब्रह्म भी सत्य है। ( सकलगततया ) सर्वगत होने से भी ब्रह्म नित्य है; क्योंकि अनित्य वस्तु सर्वगत नहीं देखी। यहां पुनरुक्ति दोष की शंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि यहां अनेक श्रुतियों से हेतुओं का संग्रह किया गया है। ( आत्मत्वतः ) ब्रह्म सर्व कालादिकों का भी आत्मा है अर्थात् काल, दिशा आदिक पदार्थों का ब्रह्म ही अधिष्ठान होने से आत्मा है जैसे सर्प दंड आदिकों का रज्जु आत्मा है। अतः ब्रह्म नित्य है। ( साक्षिभावात् ) आत्मा रूप ब्रह्म का भी यदि कोई और साक्षी माना जावेगा तो अनवस्था दोष प्राप्त होगा, क्योंकि साक्षीरहित ब्रह्म का अभाव सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार सर्व प्रपंच के भावाभाव का साक्षी होने से भी ब्रह्म नित्य है। ( अन्य द्रष्टुर्निषेधात स्फुटवचनशतैः ) 'सलल एको द्रष्टा ऽद्वैतः' 'नातोऽन्यदस्तिद्रष्टा' इत्यादिक स्पष्ट रूप से कहे श्रुति वचनों ने ब्रह्मात्मा से भिन्न द्रष्टा का अभाव ही कहा है। इससे भी आत्मारूप ब्रह्मात्मा नित्य ही है क्योंकि यदि द्रष्टा का भी अभाव होगा तो जगत् में अंधता ही प्राप्त हो जावेगी। अथवा 'स्फुट वचन शतैः' अन्य सैकड़ों स्पष्ट श्रुति प्रमाण होने से इसको भिन्नहेतु मान सकते हैं। भाव यह है कि सत्यादिपद घटित श्रुतियोंसे भी ब्रह्म की सत्यता ही निश्चित है अर्थात् 'सत्यं ज्ञानमनंत ब्रह्म नित्यं सर्वगतं सूक्ष्मम् सत्यस्य सत्यम् अमृतं विदित्वा।' इत्यादिक वेद वचनों से भी ब्रह्म सत्यरूप है। ( स्वानुभूत्याच ) तथा

विद्वानों के अनुभव से भी आत्मारूप ब्रह्म सत्य है ॥२९॥

युक्तिशतगर्भित अनेक श्रुतिपदों से आत्मारूप ब्रह्म की सत्यरूपता सिद्ध की। अब अनेक श्रुतिपद संग्रह से ब्रह्म की चिद्रूपता सिद्ध की जाती है—

**आत्मत्वादीक्षितृत्वादखिलवशितया शास्त्रयोनित्ववादात्कामाभिध्योपदेशाच्छशि तपन मुख द्योति भारूपतोक्तेः। साक्षादेवापरोक्षादसुकृत सुकृताध्यक्षसाक्षित्व वादात्सर्वज्ञ ज्ञादि शब्दात्स्फुट वचन शतैश्चापि सच्चित्स्वभावम् ॥३०॥**

सबका आत्मा होने से ईक्षण के कथन से सब को आधीन रखता है इस से, शास्त्र ही प्रमाण होने से, सृष्टि कामना उस में होती है ऐसा श्रुति का कथन होने से, चंद्र सूर्य ज्योतिओं का भी प्रकाशक होने से, साक्षात् अपरोक्ष होने से, अशुभ शुभ का अध्यक्ष और साक्षी होने से उस के लिये सर्वज्ञ, आदि शब्दों का प्रयोग होने से तथा ऐसे अन्य सैकड़ों बचनों से सत् ब्रह्म चेतन स्वरूप है ॥३०॥

( सच्चित् स्वभावम् ) सत्रूप ब्रह्म चेतनस्वरूप है। अब ब्रह्म की चैतन्यरूपता में हेतुओं को दिखलाते हैं। ( आत्मत्वात् ) तत्त्वमसि। अहं ब्रह्मास्मि प्रज्ञानमानंदं ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म।

तत् सृष्ट्वातदेवानुप्राविशत् । य इमं मध्वदंवेद आत्मानं । अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ॥ इत्यादिक सैकड़ों श्रुतीयोंने ब्रह्म को आत्मा कथन किया है । भाव यह है कि ब्रह्म आत्मस्वरूप है, अपने स्वरूपको ही आत्मा कहते हैं और अपनी चेतनरूपता प्राणिमात्र को अनुभूत है । मैं जड़ हूं वा चेतन हूं यह किसी प्राणी को भी संशय नहीं होता और न मैं जड़ हूँ ऐसा विपर्यय ही होता है, अन्यथा, द्रष्टा कौन होगा ? ( ईक्षितृत्वात् ) तदैक्षत इत्यादि वेद वचनों ने ब्रह्म सृष्टि का ईक्षणकर्ता है ऐसा कहा है । इस लिये ब्रह्म चेतन स्वरूप है, क्योंकि जड़ में इच्छा संभव नहीं है ! ( अखिल वशितया ) 'एतस्यवाक्षरस्य' इत्यादि बृहदारण्यकोपनिषत्त के गार्गि ब्राह्मण वाक्य ब्रह्म ही सर्व को अपने आधीन रखता है यह बतलाते हैं । इस लिये ब्रह्म चेतन है, क्योंकि वशाकरना चेतन का धर्म है । ( शास्त्र योनित्ववादात् ) जिसमें शास्त्र ही प्रमाण हो वह शास्त्रयोनि कहा जाता है । अर्थात् 'तंत्वोपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादि शास्त्र ब्रह्म को एक उपनिषत्प्रमाणगम्य कहता है । प्रमाण अज्ञात अर्थका ही ज्ञापक होता है और अज्ञानता चेतन में ही होसक्ती है, जड़ में नहीं, क्यों कि जड़ में प्रयोजन का अभाव है । अतः ब्रह्म चेतन है । ( कामाभिध्योपदेशात् ) कहीं पर ब्रह्म में सृष्टि विषय के कामना होने का कहा है इससे भी ब्रह्म चेतनरूप है क्योंकि काम संकल्प का कर्ता चेतन ही होता है जड़ नहीं ! ( शशितपन मुख द्योति भारूपतोक्तेः ) चंद्रमा सूर्यादि प्रधान हैं जिनमें ऐसी प्रधान अग्नि आदिक जिन ज्योतिओं में प्रकाशक स्वयं प्रकाशरूप ब्रह्म श्रतीयों में कहा है अर्थात 'ज्योतिषामपितज्ज्योतिः' इत्यादिक वेदवाक्यों में कहा है । इस से स्पष्टही ब्रह्म को चेतनरूपता है । ( साक्षादेवापरोक्षात् )

'यत्साक्षात् अपरोक्षात् ब्रह्म' इत्यादिक श्रुतिओं ने ब्रह्म को परम प्रत्यक्षरूप कहा है, इससे भी ब्रह्म को चेतनरूपता स्पष्ट है। किंच ( असुकृत सुकृताध्यक्ष साक्षित्ववादात् ) 'कर्माध्यक्षः एव ह्येवासाधुकर्मकारयति' इत्यादिक श्रुतिओं ने ब्रह्म को पापपुण्य की प्रेरकता और साक्षात् द्रष्टृत्वता कही है। इस से भी ब्रह्म चेतन रूप है ऐसा स्पष्ट विदत होता है ( सर्वज्ञ ज्ञादि शब्दात् ) 'ज्ञः कालकालो गुणी। यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इत्यादिक श्रुतिओं ने ब्रह्म में सर्वज्ञ और अर्थात् ज्ञाता आदिक शब्द कहे हैं, इससे ब्रह्म चेतन रूप सिद्ध होता है। ( स्फुट बचन शतैश्च ) 'चिन्मात्रोऽहं सदा शिवः। चैतन्यमात्मनो रूपम्' इत्यादि असंख्य साक्षात् चेतनत्व प्रतिपादक शब्दों से ब्रह्म चेतन स्वरूप है, यह निश्चय होता है ॥३०॥

अब श्रुतिओं के वाक्यों से ही ब्रह्म को आनंद रूप सिद्ध किया जाता है—

**सौख्योत्कर्षावधित्वान्निखिल सुख कणांभोनिधित्वश्रुतिभ्यो मुक्त प्राप्यत्ववादान्निरवधि परमानन्द भूमात्मकत्वात्। सर्वप्रत्यक्त्ववादान्निधि निलय वधूसाम्यवादात्सुषुप्तावानन्दे ब्रह्मतोक्तेरपि च रसतया तत्सदानन्दरूपम् ॥३१॥**

आनंद की अधिकता की वह अंतिम भूमि है, उस को श्रुति सब सुख कणों का समुद्र कहती है, मुक्त उस को प्राप्त होते हैं, वह निरातिशय आनंद स्वरूप भूमा है,

सब का प्रत्यगात्मा है गढ़ा हुआ धन, घोंसला और स्त्री प्रसंग में एकता के समान उसका कथन होने से तथा सुषुप्ति के आनंद में ब्रह्मरूपता के कथन से ब्रह्म एकरस सत् आनंद स्वरूप है ॥३१॥

( तत्सदानन्दरूपम् ) वह सत्रूप ब्रह्म सदा आनंद स्वरूप है। अब ब्रह्म की आनन्द रूपता में श्रुति संगृहीत कारणों को दिखलाया जाता है, ( सौख्योत्कर्षावधित्वात् ) आनन्द की अधिकता की अवसान भूमि ब्रह्मही है, क्योंकि तैत्तिरीयोपनिषत् की ब्रह्म वल्ली में सार्वभौमसे लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त सब किसी का जो भी आनन्द है, सो ब्रह्मानन्द का एक अंश है ऐसा कहा है, इसलिये सुख की उत्कर्षता ब्रह्म में ही समाप्त है इससे ब्रह्म परमानन्दरूप है। ( निखिल सुखकणाम्भोनिधित्वश्रुतिभ्यः ) सर्व ही सुखकणों का समुद्र ब्रह्म है यह अथ 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानिमात्रामुपजीवन्ति' इत्यादिक श्रुतियों से सुना है, अतः ब्रह्म परमानन्दरूप है ( मुक्त प्राप्यत्ववादात ) 'मुक्तोपसृप्यम्' ब्रह्मविदा प्नोतिपरम्। अत्र ब्रह्म समश्नुते। मांप्राप्यतु। इत्यादिक सैकड़ों ही श्रुति तथा सर्वज्ञ बचनों से मुक्तपुरुष ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ऐसा कहा है। इस से भी ब्रह्म परमानन्दरूप है, क्योंकि निरानन्द में मुमुक्षा ही नहीं होती ( निरवधिपरमानन्द भूमात्मकत्वात् ) निरतिशय आनन्द अनंत रूप ब्रह्म है क्योंकि 'यो वै भूमा तन्सुखं नाल्पेसुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव जिज्ञासितव्यः' इस छांदोग्योपषित् की श्रुति ने एक ब्रह्म को ही निरतिशय सुखरूप कहा है और भूमा से भिन्नको सातिशय होने से अल्पता बता कर अल्प में सुख का निषेध किया है। अल्पसुख आगे आगे अधिक सुख की तृष्णा का हेतु होने से सुख नहीं है,

इसलिये परमार्थ सुख स्वरूप व्यापक ब्रह्म ही है। भूमा शब्दका अर्थ व्यापक ब्रह्म है। ( सर्वप्रत्यक्त्व वादात् ) परम प्रेमके आस्पद रूपसे प्रसिद्ध जो सर्व प्रत्यगात्मा है उस सर्व प्रत्यक् आत्मा को ही ब्रह्म कहते हैं। भावार्थ यह है कि सर्व प्राणिओंका अपने में परम प्रेम देखा जाता है अतः आत्मा की सुखरूपता सर्व प्राणिमात्र को अनुभूत है और ब्रह्म की प्रत्यगात्मरूपता 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' 'स वा एष महानज आत्मा योयं विज्ञानमयः' इत्यादि श्रुतिओं ने कही है। इसलिये ब्रह्म परमानन्द रूप है, ( निधि निलय वधूसाम्य वादात् ) जैसे पृथिवी में अर्थात् घर के आंगन में दबी हुई निधि के ऊपर प्रति दिन विचरते हुए पुरुष को अज्ञान प्रभाव से निधि का सुख प्राप्त नहीं होता है, इस निधि के समान ब्रह्म को बतलाया है। और जैसे आकाश में बाज आदिक पक्षी उड़ने से परिश्रांत होकर सायंकाल में अपने घौंसले में ही सुख के लिये प्राप्त होते हैं तैसे ही जीव भी सुखरूप ब्रह्म की प्राप्ति के अर्थ सुषुप्ति में प्राप्त होते हैं, इस प्रकार नीड के समान सुखरूप ब्रह्म को बतलाया है। और जैसे स्त्री के साथ मैथुनरूप संग से अभिन्न हुआ पुरुष बहिर् अंतर कुछ भी नहीं जानता तैसे ही सुषुप्ति में ब्रह्म से अभिन्न हुआ जीव बहिर अंतर कुछ भी नहीं जानता इस वधू के समान ब्रह्म को बतलाया है भाव यह है, कि इन दृष्टांतों से ब्रह्म की सुख रूपता सिद्ध होती है। ( सुषुप्तौ आनन्दे ब्रह्मता उक्तेः ) सुषुप्ति में होने वाले आनंद में 'स एष ब्रह्मलोकः' इस वाक्यसे ब्रह्म रूपता ही कही है। इससे भी ब्रह्म परमानंद रूप है। ( अपिच रसतया ) तथा आत्मारूप ब्रह्मको साक्षात् ही श्रुति ने आनंदैक रसरूप कहा है, अतः ब्रह्म आनंद रूप है ॥३१॥

पूर्व तीन श्लोकों से ब्रह्मको सच्चिदानंद रूप कहा। अब उक्त ब्रह्मका जो सच्चिदानंद रूप लक्षण है उसको जीवात्मा में चार श्लोकों से दिखलाते हैं।

**सच्चित् सौख्यैकरस्यं निगदितमिह यद् ब्रह्मणो लक्षणं तत्प्रत्यक्त्वेपि जैवे सममखिल दृशस्तस्य वाधाद्ययोगात। मुख्यप्रेमास्पदत्वादुपधिविभिदया वस्तुभेदाद्यसिद्धे ब्रह्मांशत्वप्रवादात्तनुकरण दृशः स्वप्रकाशत्वतश्च ॥३२॥**

जो सत चित आनंद एक रस ब्रह्म के लक्षण कहे, वे ब्रह्मही जीव का प्रत्यक् स्वरूप होने से—क्योंकि ब्रह्मरूप से ही वह सबका द्रष्टा होने से उसका कभी भी बाध नहीं होता—वैसे ही वह मुख्य प्रेम का विषय होने से, उपाधिके भेद से आत्मा में भेद की सिद्ध न होने से, ब्रह्म का अंश होने से, शरीरादिक का द्रष्टा होने से तथा स्वप्रकाश होने से जीवमें भी वे समान रूप से ही पाये जाते हैं ॥३२॥

( इह सत् चित् सौख्यैक रस्यं ब्रह्मणो लक्षणं यत् निगदितं ) इस ग्रंथ में श्रुतिओं के प्रमाण से सत् चित् आनंदैक रसता रूप जो ब्रह्म का लक्षण कहा है ( तत्प्रत्यक्त्वे जैवेपि समम् ) सो लक्षण जीव संबंधि सर्व आंतर सर्वसाक्षी अप्रत्यगात्मा में भी समान ही है, अर्थात् ब्रह्मके समान आत्मा भी सच्चिदानंद रूप ही है। अब आत्मा में सत्यरूपता दिखलाते हैं ( अखिल

दृशस्तस्य बाधादि अयोगात् ) सर्व अवस्था के साक्षी रूप आत्मा का बाध कहना तथा आत्मा को विकारादिक कहना अशक्य हैं, क्योंकि साक्षी का भी यदि बाध होगा तो जगत् में अंधता ही प्राप्त होवेगी और असाक्षिक साक्षी का बाध भी असिद्ध है, अतः आत्मा सत्य है। मुख्य प्रेमास्पदत्वात् ) आत्मा ही मुख्य प्रेमका विषय है अर्थात् अनन्य अर्थ होने से आत्मा परम प्रेमास्पद है, अतः आत्मा सुखरूप है। ( उपधि-विभिदया ) अज्ञान तथा तत्कार्य देहादिकोंके भेदसे ( वस्तुभेदादि असिद्धेः ) आत्मरूप वस्तु में भेद तथा अनित्यत्वादिक असिद्ध नहीं हो सकते, इससे आत्मा सत्यरूप है। ( ब्रह्मांशत्वप्रवादात ) 'यथा अग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगाः' इत्यादिक श्रुतियों से तथा 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' इत्यादिक स्मृतियों से तथा 'नाना व्यपदेशात् इत्यादिक से' जीवात्मा को ब्रह्म का महाकाश घटाकाश के सदृश अंश कहा है। इससे आत्मा सत् चित आनंद रूप है, क्योंकि आत्मा का ब्रह्मसे भेद नहीं है और ब्रह्म सच्चिदानंद रूप है। ( तनुकरणदृशः ) आत्मा शरीर इंद्रियादिकों का द्रष्टा है अर्थात् साक्षी है, इससे आत्मा चिद् रूप है तथा ( स्वप्रकाशतत्वश्च ) आत्मा स्वप्रकाश है, इससे तो स्पष्ट ही आत्मा चिद्रूप है, क्योंकि साक्षी आत्मा जड़वर्ग से भास्य नहीं है ॥३२॥

अब आत्मा की उक्त सत्यरूपता ही दृढ़ करते हैं।

**स्वप्नार्थैर्बाध्यमानै रयमपिसह यद् बाध्यमानो न दृष्टो बाधद्रष्टा स्वयं सन् कथमिव कलयं-दात्मबाधं दृगात्मा। दृग्भेदे यन्न मानं यदपि नच**

**समा दृग् दृशेर्गोचरो वा यथासौ निर्विकारस्तदय मनवधिः प्रत्यगात्मा सदात्मा ॥२३॥**

जाग्रत अवस्था का बाध होने पर स्वप्न पदार्थ के साथ द्रष्टा का बाध नहीं होता। बाधका द्रष्टा साक्षी आत्मा अपना बाध किस प्रकार जान सकता है? द्रष्टा से भिन्न अन्य द्रष्टा में कोई प्रमाण नहीं है और साक्षी द्रष्टा अन्य द्रष्टा का विषय नहीं होता, इसलिये सब निर्विकार है, प्रत्यगात्मा सदात्मा अपरिच्छिन्न है ॥२३॥

( यत् बाध्य मानैः स्वाप्नार्थैः सह अयं बाधद्रष्टा बाध्यमानो न दृष्टः ) जाग्रत अवस्था में बाध होने वाले स्वप्नमें होने वाले गज, तुरंग, रथ आदिके पदार्थों के साथ ही प्रत्यक्षरूप बाध के द्रष्टा प्रत्यगात्मा का बाध होते नहीं देखा गया है, इसलिये आत्मा सत्य है। ( स्वयं बाधद्रष्टा सन् दृगात्मा आत्मबाधं कथमिव कल्पयेत् ) स्वयं बाध का द्रष्टा सत् रूप और साक्षी ऐसा आत्मा अपने ही बाध को कैसे जान सकता है? नहीं जान सकता, क्योंकि अपने बाध को कोई भी प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। अन्यथा व्याघात प्राप्त होगा, अतः आत्म सत् रूप है। ( यत् दृग्भेदे मानमपि न ) द्रष्टारूप प्रकृतात्मा से भिन्न और द्रष्टा के होने में कोई प्रमाण भी नहीं है। उलटा ( नातोऽन्य-दस्ति द्रष्टा ) इत्यादिक प्रमाण आत्मा से भिन्न द्रष्टा का निषेध ही करते हैं। इसलिये आत्मा के बाध को अन्य भी कोई प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, अतः यह आत्मा सत् रूप है। ( समा

दृग्दृशेर्गोचरोपि नच ) यदि द्रष्टा भिन्न माना जावे, तब भी साक्षी आत्मा उस अन्य द्रष्टा का विषय नहीं हो सकता क्योंकि दोनों ही द्रष्टा समान स्वभाव वाले हैं और समान स्वभाव वालों का दो प्रदीपों के सदृश विषय विषयी भाव नहीं देखने में आता। इसलिये अन्य द्रष्टा से भी द्रष्टारूप आत्मा का बाध ग्रहण नहीं हो सकता, अतः आत्मा सत् रूप है। ( यश्चासौ निर्विकारः ) यह आत्मा निर्विकार है अर्थात् बालत्व, जाग्रत्त्व आदिक सर्व धर्मसे रहित है ( तत् अयं प्रत्यगात्मा निरवधिः ) इसलिये यह प्रत्यगात्मा अपरिच्छिन्न अर्थात् काल आदि कृत परिच्छेद से रहित और ( सदात्मा ) सत्य स्वरूप है ॥३३॥

आत्मा की सत्य रूपता कही अब आत्मा की चेतन रूपता दिखलाई जाती है।

**यद् बाल्यादिष्ववस्थास्वहमहमिति भात्येक रूपो विभिन्नास्वध्यक्षं जाग्रदर्थानिव निजमहसा यश्च सुप्तोपि वेत्ति। यश्चाहंकार मोषेऽप्यपरिमुषित चित् सुप्ति सौख्यादिसाक्षी द्रष्टुर्द्दृष्टेरलोपे श्रुतिरपि तदसौ प्रत्यगात्मा दृगात्मा ॥३४॥**

बाल्यादि अवस्था में 'मैं हूं, मैं हूं' इस प्रकार का स्वरूप सर्वदा एकसा ही जानता है। सोया हुआ भी मनोमय पदार्थों को जाग्रत के समान स्वप्रकाश से प्रत्यक्ष जानता है। अहंकार का लय होने पर सुषुप्ति अवस्था में अनष्ट चिद् सुखादि का साक्षी है तथा द्रष्टा की दृष्टि

का लोप नहीं होता, ऐसी श्रुति है। इसीसे प्रत्यगात्मा ज्ञान स्वरूप है ॥३४॥

( तत् असौ प्रत्यगात्मा दृगात्मा ) आगे कहे हुए हेतुओं से यह प्रत्यगात्मा ज्ञानरूप है। ( यत् विभिन्नासु बाल्यादिषु अवस्थासु अहं अहं इति एक रूपः भाति ) भिन्न भिन्न बाल्यादिक अवस्थाओं में 'वह मैं हूँ वह मैं हूँ' इस प्रकार से आत्मा एक रूप हुआ ही प्रतीत होता है। भाव यह है, बाल्य अवस्था में किये हुए गेंद बल्लादिक क्रीड़ा व्यवहारों को और नवयुवक अवस्था में किये हुए बलवानों के साथ मल्ल युद्धादि कार्यों को और वृद्धा अवस्था में शरीर की पराधीनता दौर्बल्य आदिकों को प्रत्यभिज्ञा से एक रूप हुआ ही आत्मा जानता है, इसलिये आत्मा ज्ञान रूप है। ( यत् च सुप्तोपि निज महसा जाग्रदर्थान् इव अध्यक्षं वेत्ति ) यह प्रत्यगात्मा सोया हुआ भी अर्थात् जाग्रत् पदार्थों के सदृश ही मनोमयपदार्थों को अपने प्रकाश से प्रत्यक्ष जानता है, इसलिये भी प्रत्यगात्मा ज्ञान स्वरूप है। ( यत् च अहंकार मोषे अपि अपरिमुषित चित् सुप्ति सौख्यादि साक्षी ) यह प्रत्यगात्मा सुषुप्ति अवस्था में अहंकार के लय होने पर भी आप अनष्ट चिद् रूप हुआ सुषुप्ति अवस्था का तथा सुषुप्ति में होने वाले अज्ञान का साक्षी होता है। अन्यथा, जागकर 'मैं सुखसे सोया था कुछ भी नहीं जानता था' यह स्मरण संभवे नहीं क्योंकि स्मृति अनुभूत विषय की ही होती है, अननुभूत की नहीं इसलिये यह प्रत्यगात्मा ज्ञान रूप है। ( दृष्टुर्दृष्टेः अलोप श्रुतिः अपि ) इस द्रष्टा रूप आत्मा के स्वरूपभूत ज्ञान की नित्यता में 'नहिद्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो-विद्यते' यह श्रुति भी प्रमाणतया विद्यमान है। इसलिये यह प्रत्यगात्मा ज्ञान स्वरूप है ॥३४॥

आत्मा की ज्ञानरूपता कही। अब आत्मा की आनंद रूपता को दिखलाते हैं—

**यच्चात्मान्यद् ब्रुवाणं प्रियमिति तव तद्रोत्स्य-तीति ब्रवीति प्राज्ञेनैक्यं सुषुप्तौ निगदतिच यदानन्द संविन्मयेन। इच्छा यत्स्वानुकूले त्रिज-गति विदिता स्वप्रतीपे जिहासा यच्च स्यां सर्वदेति स्पृहयति तदसौ प्रत्यगात्मा सुखात्मा ॥३५॥**

आत्मा से अन्य किसी को प्रिय माने तो वह तुझे रुलावेगा, ऐसा ज्ञानी कहते हैं। सुषुप्ति के आनंद ज्ञान में प्राज्ञ से ईश्वर की एकता के कथन से, तीनों लोकों में अनुकूल पदार्थ में राग और प्रतिकूल में द्वेष से तथा मेरा कभी भी अभाव नहो, ऐसी इच्छा से प्रत्यगात्मा आनंद स्वरूप है ॥३५॥

( तत् असौ प्रत्यगात्मा सुखात्मा ) आगे कहे हुए हेतुओं से प्रत्यक्षरूप यह प्रत्यगात्मा आनंद स्वरूप है। ( यत् च आत्मान्यत् प्रियं इति ब्रुवाणं तवतत् रोत्स्यति इति ब्रवीति ) आत्मा से भिन्न पुत्र आदिकों को 'यह पुत्रादिक मुझे प्रिय हैं' इस प्रकार कहने वाले के प्रति ज्ञानी महात्मा कहते हैं कि आत्मा से भिन्न पुत्रादिक पदार्थ अपने वियोग द्वारा तेरे को खूब रुदन करवावेंगे, इस प्रकार 'तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयोवित्ता-त्प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरंयदयमात्मा। सयोऽन्यमात्मनः प्रियं

ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं रोत्स्यतीतीश्वरो हतथैव स्यात् ।' यह बृहदारण्योपनिषत् की श्रुति कहती है। इसलिये आत्मा सुख स्वरूप है। ( यत् आनन्दसंविन्मयेन प्राज्ञेनैक्यं सुषुप्तौ निगदति च ) सुषुप्ति में आनंदरूप ज्ञान प्रचुर प्राज्ञ अर्थात् ईश्वर के साथ आत्मा की एकता को 'तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यंकिंचन वेद नान्तर मेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यंकिंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूप शोकान्तरम्' यह बृहदारण्यकोपनिषत् की श्रुति कहती है। इसलिये आत्मा आनंद रूप है। ( यत् त्रिजगति स्वानुकूले इच्छा स्वप्रतीपे जिहासा विदिता ) तीन लोकस्थ प्राणियों को अपने पर उपकार करने वाले स्वानुकूल पदार्थ में इच्छा अर्थात् राग विदित है और अपने पर उपकार न करने वाले प्रतिकूल या विरोधी पदार्थमें त्याग की इच्छारूप द्वेष विदित है। भाव यह है कि स्वविरोधी स्त्री पुत्र आदिक पदार्थ भी प्रिय नहीं लगते, किंतु स्वानुकूल हुए ही प्रिय लगते हैं। यह अर्थ श्रीमुनि याज्ञवल्क्य महाराज ने सर्व साधन संपन्न विरक्त हृदय सकलमितानुभाषिणी परम मुमुक्षान्वित स्वप्रिय भार्या मैत्रेयी के प्रति 'स होवाच न वारे पत्युःकामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तुकामाय पतिः प्रियो भवति' इत्यादि वचनों से कहा है। इसलिये आत्मा आनंदरूप है। ( यच्च स्यां सर्वदेति स्पृहयति ) 'मैं सर्वदा काल ही बना रहूं, मेरा अभाव कभी भी न होवे' इस प्रकार सर्व प्राणी आनंदरूप आत्मा की ही इच्छा करते हैं। भाव यह है कि यदि दुःखरूप आत्मा होता तो आत्मा की कोई भी इच्छा न करता। सर्व प्राणी सुख की ही इच्छा करते हैं। इसीलिये आत्मा के सर्व के सर्व काल बने रहने की इच्छा वाले सब प्राणी होते हैं अतः आत्मा आनंद स्वरूप है ॥३५॥

पदार्थ ज्ञान के अधीन वाक्यार्थ ज्ञान होता है, इसलिये पहले तत् पदार्थ ब्रह्म में तथा त्वं पदार्थ जीवात्मा में सत् चित आनंद रूपता दिखलाई। अब उक्त सर्व निर्णय करने पर तत्त्वमसि महावाक्य के अर्थ का निश्चय होता है, यह दिखलाया जाता है।

**इत्थं मीमांसमाने श्रुति गुरुवचनैर्युक्तिभिश्चानुभूत्या शश्वज्जीवेशतत्त्वे निपुणमधिगते वस्तुतो लक्षणैक्ये। निष्प्रत्यूहं निजार्थं समधिगमयितुं तत्त्वमस्यादि वाक्यान्याद्यन्तावेक्षणाद्यैरधिगत हृदयान्यञ्जसैव क्षमन्ते ॥३६॥**

इस प्रकार श्रुति, गुरु वाक्य, युक्ति और अनुभव से जीव और ईश्वर के स्वरूप लक्षणों के विचार करने से एकता का निश्चय होता है। उपक्रमोपसंहार से निश्चत किये हुए तत्त्वमसि महा वाक्य ही विघ्न रहित चिद् अभिन्न प्रत्यगात्मा का जैसा है वैसा यथार्थ निश्चय कराने में समर्थ है ॥३६॥

( इत्थम् ) पूर्व उक्त रीति से ( श्रुति गुरु वचनैः ) वेद के तथा गुरुओं के वचनों से तथा ( युक्तिभिः ) वेदानुकूल युक्तियों से तथा ( अनुभूत्या ) अपने अनुभव से ( शश्वत् जीवेश तत्त्वे मीमांसमाने ) निरंतर जीव के तथा ईश्वर के स्वरूप का विचार करने पर ( वस्तुतः लक्षणैक्ये निपुणमधिगते ) परमार्थ से जीव

ईश्वर के स्वरूप लक्षण की एकता जैसे है तैसे ही सम्यक् निश्चय की जाती है। इस प्रकार तत्त्व पदार्थों के स्वरूप लक्षण की एकरूपता निश्चय होने पर अनंतर ( आदि अंतावेक्षणाद्यैः अधिगत हृदयानि तत्त्वमस्यादि वाक्यानि निष्प्रत्यूहं अंजसैव निजार्थं समधिगमयितुं क्षमन्ते ) उपक्रम उपसंहारादि तात्पर्य निर्णायक षट् विध लिंगों के विचारादिकों द्वारा निश्चित अभिप्राय वाले तत्त्वमस्यादि महावाक्य निर्विघ्नतया, साक्षात्, शीघ्र तथा जैसे है तैसे ही अखंड प्रत्यक् अभिन्न चिद्रूप निज अर्थ के सम्यक् निश्चय कराने के लिये समर्थ होते हैं ॥३६॥

पदार्थ ज्ञान के आधीन वाक्यार्थ ज्ञान होता है, इसलिये तत त्वं असि इन पदों के अर्थ को अब दिखलाया जाता है—

**प्राक् सर्गाद्यत्सदासीदसृजदथ च यत्तेज आदि प्रविष्टं जीवस्तस्मिन् यदासीद्यदखिलमनृतं नामरूपं वितेने। तत् सत्तच्छब्दवेद्यं त्वमिति निगदितः श्वेत केत्वाख्य जीवो वाक्यार्थं नित्य सिद्धं गमयदसिपदं वर्तमानं ब्रवीति ॥३७॥**

सृष्टि के पहिले जो सत् वस्तु थी उसने अग्नि आदिकों को रचा और उसमें प्रवेश कर वह जीव हुआ तथा सब असत् का नाम रूप से विस्तार किया। इस श्रुति में कहा हुआ सत् तत्त्वमसि में तत् का वाच्यार्थ है और तू इस प्रकार से श्वेतकेतू नामक जीव को त्वं पदका वाच्य

कथन किया है और असिपद नित्य सिद्ध वाक्य को वर्तमान में बोध कराता है ॥३७॥

इस श्लोक में भी छांदोग्यादिक श्रुतिओं का ही संग्रह है, यह जान लेना। ( प्राक् सर्गात् यत् सत् आसीत् ) जो सत् रूप वस्तु सृष्टि से पहले थी 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादिक श्रुति उक्त अर्थ में प्रमाण है। ( अथ यत् च असृजत् तेज आदि ) अनंतर जीवों के कर्मों के अनुसार जिस सत् रूप मायाशबल ब्रह्म ने अग्नि आदिकों की रचना की, इस अर्थ में भी ( तत् तेजोऽसृजत् ) इत्यादि श्रुति प्रमाण तथा विद्यमान है ( यत् तस्मिन्प्रविष्टं जीव आसीत् ) जो सत् रूप ब्रह्म अपनी रची हुई सृष्टि में प्रवेश करके अर्थात् उपाधि अवच्छिन्नता रूप प्रवेश करके जीव नाम से प्रसिद्ध हुआ 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य' यह श्रुति उक्त अर्थ में प्रमाण है। ( अखिलं अनूनं नामरूपं वितेने ) उसके अनंतर फिर ब्रह्मादिक जीवरूप से मिथ्या नाम रूप का जिस सत् रूप ब्रह्म ने विस्तार किया है, 'जीवेनात्मनानु प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' श्रुति इस उक्त अर्थ में प्रमाण है, ( तत् सत् सत शब्द वेद्यम् ) सो सत् रूप ब्रह्म तत्त्वमसि महा वाक्य में तत् शब्द का वाच्य है। ( त्वं इति श्वेतकेतु आख्यजीवो निगदितः ) 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इस वचन में पिता आरुणी ने श्वेतकेतु नाम के जीव को त्वं पद का वाच्य कथन किया है। ( असिपदं नित्य सिद्धं वाक्यार्थं गमयत् वर्तमानं ब्रवीति ) और असि यह वर्तमान अर्थक मध्यम पुरुष का क्रिया प्रयोग नित्य सिद्ध वाक्यार्थ को बोधन करता हुआ वर्तमान अर्थ को कथन करता है ॥३७॥

तत्त्वमसि महा वाक्या का पदार्थ कहकर अब पदार्थ के अन्वय का प्रकार दिखाते हैं—

**बाधाध्यास विशेषणैक्य विषयं नाम्नोश्चतुर्धा मतं सामानाधिकरण्यमाद्यमिह न व्यर्थोद्यमा स्यात् श्रुतिः। ध्यानाद्यश्रवणादनित्य फलता-दोषाच्च नाध्यासधीस्तादात्म्यं न विरुद्धयोरिति बलाद्वस्त्वैक्य पक्ष स्थितिः ॥३८॥**

बाध, अध्यास, विशेषण और एकता विषय के चार प्रकार के सामानाधिकरण कहे जाते हैं। यहां पहिला नहीं है क्योंकि श्रुति का प्रयत्न व्यर्थ होगा। दूसरा नहीं है क्योंकि अनित्य फल रूप दोषसे ध्यानादिक के अश्रवण से तथा तीसरे का विरोध होने से तादात्म्य नहीं है। इस प्रकार तत्त्वमसि महा वाक्य में एक वस्तु पक्षकी ही बल से सिद्धि होती है ॥३८॥

( नाम्नोः ) समान विभक्ति वाले शब्दों का ( सामानाधि करण्यम् ) एक अर्थ प्रतिपादकत्व रूप अभेद अन्वय ( चतुर्विधं मतम् ) चार प्रकार का अभिमत है। वह चार प्रकार का अभेद अन्वय यह है ( बाधाध्यास विशेषणैक्यविषयम् ) प्रथम बाधा भेद अन्वय है। मिथ्या ज्ञान का जो यथार्थ ज्ञान करने वाली वृति है, उसका नाम बाध है। जैसे मंद अन्धकार में स्थाणु के लिये यह पुरुष है इस प्रकार मिथ्या ज्ञान की वह पुरुष स्थाणु ही है इस निश्चित यथार्थ ज्ञान से निवृत्ति होजाती है। यह बाध विषयक सामानाधिकरण्य कहा जाता है अर्थात् बाध

अभेद अन्वय कहा जाता है। दूसरा अध्यास अभेद अन्वय है। इसका उदाहरण यह है कि जैसे शुक्ति आदिकोंमें पूर्व उक्त लक्षण अध्यास से यह रजत है ऐसी प्रतीत होती है, इसको ही अध्यास विषयक सामानाधिकरण्य कहते हैं अर्थात् यह अध्यास अभेद अन्वय कहा जाता है। तीसरा विशेषण अभेद अन्वय है। इसका उदाहरण दंडी पुरुष इत्यादि प्रसिद्ध हैं, क्योंकि दंड रूप विशेषणा-भिन्न पुरुष के विषयक यह सामानाधिकरण्य है अर्थात् एक वस्तु विषयक सामानाधिकरण्य है और चौथा एक वस्तु विषयक सामानाधिकरण्य है। इसका उदाहरण बहुत प्रकाश वाला चंद्र है वही यह देवदत्त है इत्यादि रूप से प्रसिद्ध है।

(इह) तत्त्वमसि महा वाक्य में ( आद्यं न ) बाध सामानाधिकरण्य रूप पहला बाधाभेदान्वय पक्ष संभव नहीं; क्योंकि (श्रुतिः व्यर्थोद्यमा स्यात्) तत्त्वमसि महा वाक्य रूप श्रुति निष्फल प्रयत्न वाली हो जावेगी। मोक्ष के उपाय के उपदेश में श्रुति का उद्यम है। यदि ब्रह्म का बाध किया जावेगा तो मोक्ष का ही बाध होगा, क्योंकि स्वरूप स्थिति अथवा स्वस्थ ब्रह्म का नाम ही मोक्ष है। इसी कारण मोक्ष को शास्त्रों में नित्य बतलाया है। यदि जीव का बाध किया जावेगा तो मुमुक्षु के अभाव होजाने से मोक्ष के उपाय के उपदेश का उद्यम व्यर्थ हो जावेगा अथवा बंध मोक्ष की व्यधि-करणता रूप दोष प्राप्त होवेगा, क्योंकि इस पक्षमें बंध तो जीवमें है और जीवका बाध होजाने से मोक्ष ब्रह्ममें है। ( नाध्यासधीः ) तत्त्वमसि महा वाक्य में दूसरा अध्यासधी रूप अध्यासाभेद अन्वय पक्ष भी संभव नहीं, क्योंकि ( ध्यानादि अश्रवणात् ) 'मनोब्रह्मे त्युपासीत' इत्यादि विधिओंके समान ब्रह्मत्वध्यानादिक विधिकी श्रुति नहीं है और कहीं पर ब्रह्मत्व ध्यान विधिकी स्तुति

होने पर भी अभ्यासाभेदान्वय पक्ष संभव नहीं, क्योंकि ( अनित्य-फलता दोषात् च ) ध्यान भी मानसी क्रिया ही है, इस कारण वह श्रुति अनित्य फलवती होगी, क्योंकि क्रिया से साध्य फल अनित्य ही देखा है । ( विरुद्धयोस्तादात्म्यं न ) और तत्त्वमसि महा वाक्य में तीसरा विशेषण विषयक सामानाधिकरण्य रूप अभेदान्वय संभव नहीं, क्योंकि विरुद्ध स्वभाव वाले तत्त्वं पदार्थों का विशेष्य विशेषण भाव असंभव होने से तादात्म्य भी असंभव है । ( इति बलात वस्तु ऐक्य पक्षस्थितिः ) उक्त रीति से तीनों पक्ष असंभव हैं, इसलिये एक वस्तु विषयक सामानाधिकरण्य रूप चौथे पक्ष की स्थिति तत्त्वमसि इस महा वाक्य में बलात्कार से होती है ॥३८॥

तत्त्वमसि इत्यादि महा वाक्यों में तत्पद त्वंपद ये दोनों विरुद्ध धर्मों वाले होने से जल अग्नि के समान इन वाच्यार्थों का अभेद नहीं बन सकता, इसलिये एक वस्तु विषयक सामानाधिकरण्य रूप ऐक्य साधने वाला वस्तु अभेदान्वय रूप चौथा पक्ष भी भाग त्याग लक्षणा से ही सिद्धांत में स्वीकार किया गया है । अतः अब एकत्वरूप वाक्यार्थ का भाग त्याग लक्षणा से तीन श्लोकों में निश्चय कराया जाता है--

मंजु भाषिणी छन्द ।

**अभिधेयमत्र पदयोरसंगतं न विरुद्धधर्मियुग-मैक्यमेति यत् । उपयोगमूल घटनाद्ययोगतो न परस्परार्थ घटतेपि लक्षणा ॥३९॥**

यहा तत्त्वं पदों का वाच्यार्थ असंगत है क्योंकि दो विरुद्ध धर्मियों की एकता नहीं बनती । और वाच्यार्थ

किसी प्रकार घटा दिया तो उससे न तो उस श्रुति से कोई प्रयोजन भी सिद्ध होगा और न वह मूल से संगत ही होगा ॥३६॥

(अत्र) तत्त्वमसि = महा वाक्य में (पदयोः) तत् और त्वं इन पदों का (अभिधेयम्) वाच्यार्थ (असंगतम्) परस्पर अनन्वयि है, (यत्) क्योंकि (विरुद्धधर्मियुगम्) विरुद्ध धर्मों वाले दो पदार्थ (ऐक्यं न एति) एकता को प्राप्त नहीं होते।

(परस्परार्थ घटितेपि लक्षणा न) और लक्षण भी परस्परार्थ युक्त में संभव नहीं। तथा जगत् कारणत्वरूप तत् पदार्थ विशिष्ट जीव लक्षणा से जगत् का कारण है यह वाक्यार्थ हो जावेगा। इसी प्रकार त्वं पदार्थ विशिष्ट तत् पदार्थ में भी जान लेना चाहिये। परंतु यह संभव नहीं, क्योंकि (उपयोग-मूलघटनादि अयोगतः) इस प्रकार के उपदेश का मोक्ष में उपयोग नहीं है और मूलघटना आदिकों की अर्थात् उपक्रम, संगति आदिकों का भी इसमें विरोध है ॥३९॥

तत्त्वमसि महा वाक्य में उक्त जहत् स्वार्थ लक्षण भी संभव नहीं, यह अब दिखलाया जाता है--

**नच गांगतीरमिव वाच्य संगि वा प्रथितं तृतीय-मिह योग्यमन्वये । पदयोर्नचैकतर भाग लक्षणाऽध्यवसान लिंग मुपपद्यतेऽपि वा ॥४०॥**

गंगा पर घोष है इस वाक्य में गंगा के सम्बन्ध वाला तीर है। तत्त्वमसि में अन्वय के योग्य कोई

तीसरा प्रसिद्ध नहीं है। तत्त्वं इन दोनों पदों में से किसी एक पदमें भाग त्याग लक्षण नहीं है क्योंकि उसके निश्चय का कोई फल नहीं है ॥४०॥

(इह) 'गंगायांघोषः' गंगा पर घोष है; इस दृष्टांत वाक्य में (गंगा तीरमिव) जैसे अन्वय के योग्य गंगा और उसके प्रवाह का योगी दोनों से भिन्न श्रीगंगाजी का किनारा रूप तीसरा पदार्थ प्रसिद्ध है, वैसे (इह) तत्त्वमसि इस महा वाक्य में (अन्वये योग्यं वाच्य संगि तृतीयं नच प्रथितम्) अन्वय के योग्य अन्यतर पदार्थ का संग वाला कोई तीसरा पदार्थ प्रसिद्ध नहीं हैं। भावार्थ यह है कि शक्य अर्थ के परित्याग पूर्वक अर्थान्तर की प्रतीति जहल्लक्षणा कही जाती है। जैसे 'यष्टीः प्रवेशय' लकड़ियों को भीतर जाने दो इस वाक्य में यष्टि रूप शक्यार्थ के त्याग पूर्वक यष्टि पद की यष्टिधर पुरुष में लक्षणा है। और 'विष भुंक्ष्व' विष का भोजन कर इस वाक्य में विष भोजन रूप शक्यार्थ के परित्याग पूर्वक शत्रु के घर में भोजन निवृत्ति में लक्षणा है अर्थात् प्रथम उदाहरण में अन्य शक्यार्थ जो यष्टिधर पुरुष है वह लक्षित है और दूसरे उदाहरण में अन्य शक्यार्थ जो शत्रु गृह में भोजन निवृत्ति है वह लक्षित है। जैसे इन वाक्यों में स्वार्थ जहल्लक्षणा संभव है, तैसे ही तत्त्वमसि महा वाक्य में तत्त्वं पदों के वाच्यार्थों के परस्पर अन्वय के योग्य होने पर भी जहत्स्वार्थालक्षणा संभव नहीं, क्योंकि अन्वय के योग्य तत्त्वं पदार्थों से अन्यतर पदार्थ का अन्वयी तीसरा कोई पदार्थ प्रसिद्ध नहीं है। निष्कर्ष यह है कि ब्रह्म चेतन और साक्षी चेतन तत् पद और त्वं पदके वाच्य में ही प्रविष्ट

है। और इस जहत् स्वार्था लक्षण के मानने पर संपूर्ण ही वाच्यार्थ का त्याग करदेने से तीसरा कोई पदार्थ प्रसिद्ध है नहीं और यदि है तो वह तीसरा पदार्थ असत् जड़ और दुःखरूप है यही कहना होगा और उसके जानने से पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता। अतः महा वाक्य में जहतिलक्षणा नहीं है! अजहत् स्वार्था लक्षणा भी तत्त्वमसि वाक्य में संभव नहीं है, यह भी जान लेना, क्योंकि वाच्यअर्थ को न त्याग करके अर्थान्तर की प्रतीति अजहत्स्वार्था लक्षणा का लक्षण है। जैसे 'शोणोधावति' अर्थात् लाल दौड़ता है इस वाक्य में शोण पदकी लाल रंग वाले अश्वमें अजहत्स्वार्था लक्षणा है। इस प्रकार वाच्यार्थ के सहित ही अधिक अर्थ का ग्रहण जहति लक्षणा में किया जाता है। तत्त्वमसि महा वाक्य में जहति लक्षणा भी नहीं है, क्योंकि महा वाक्यों में वाच्यार्थों के विरोध दूर करने के लिये ही लक्षणा मानी है और वह इसके माननेपर भी दूर नहीं होता। इसलिये भागत्याग लक्षणा ही महा वाक्य में मान सकते हैं। शक्य अर्थ के एक भागका त्याग करके एक भाग को ग्रहण करना भाग त्याग लक्षणा का लक्षण है। इसी का नाम जहत्य-जहतीलक्षणा भी है।

शंका—यह भाग त्याग लक्षणा भी महा वाक्य के तत्त्वमसि पदों में से किसी एक पद में मानने से भी वाच्यार्थों का विरोध दूर हो जाता है, इसलिये दोनों पदों में लक्षणा कहना निष्फल है।

समाधान—महा वाक्यों में यदि केवल तत् पदार्थ में लक्षणा कहोगे तो यह वाक्यार्थ होवेगा कि तत् पद का लक्ष्य जो अद्वय-सत्चित आनंद रूप ब्रह्म है, वह काम, कर्म और अविद्या के

अधीन, अल्पशक्ति, अल्पज्ञ, परिच्छिन्न,पुण्य, पाप सुख, दुःख, जन्म, मरण आदिक अनर्थ का पात्र है। इस अर्थ में निष्ठा करने से प्राण वियोग के अनंतर भी मुमुक्षु को अनर्थ की प्राप्ति ही होवेगी आनंद की प्राप्ति नहीं। और यदि केवल जीव वाचक त्वंपद में ही लक्षणा मानें तो यह प्रश्न होता है कि त्वंपद की लक्षणा व्यापक चेतन में है अथवा उपहित साक्षी चेतन में है ? पहला पक्ष संभव नहीं, क्योंकि व्यापक चेतन का वाच्यार्थ में प्रवेश ही नहीं है और दूसरा पक्ष भी संभव नहीं, क्योंकि त्वंपद के लक्ष्यरूप साक्षिचेतन में सर्वज्ञता, अन्तर्यामिता, सर्वशिक्तिता, सर्व प्रपंच में व्यापकता परोक्षता आदिक ईश्वर धर्मों का अत्यंत असंभव है, और माया रहित को माया विशिष्ट कहना भी राज्य रहित को राजा कहने के सदृश निरर्थक है। इस प्रकार साक्षिचेतन का ईश्वर से अभेद कहने पर सारे महा वाक्य असंभव अर्थ के प्रतिपादक हो जावेंगे. इसलिये महा वाक्यों में दोनों पदों में लक्षणा माननी योग्य है, एक पद में नहीं। इस तात्पर्य को मन में लेकर आचार्य किसी एकही पद में लक्षणा का निषेध करते हैं। ( पदयोः न च एकतर भागलक्षणा ) तत त्वं, इन दोनों पदों में से किसी एक पद में भाग त्याग लक्षणा नहीं है। ( अध्यवसान लिंगं अपि उपपद्यतेवा ) और दोनों पदों में से किसी एक पद में जहत् अजहत् स्वार्थारूप भाग त्याग लक्षणा के निश्चय करने से कोई लिंग अर्थात् विशेषनिर्णय करने वाला हेतु नहीं मिलता; क्योंकि किसी एक पदमें लक्षणा मानने से सामान्य रूप से अखंड वाक्य के अर्थका तात्पर्य हस्तगत नहीं नहीं होता ॥४०॥

शंका--जैसे मनुष्य सिंह है, इस वाक्य में क्रूरता, वीरता आदिक गुणों की साम्यता से सिंह सदृश मनुष्य है इस प्रकार

गौणी वृत्ति मानी है तैसे ही तत्त्वमसि महा वाक्य में भी तत्पद गौणी वृत्ति से तत् सदृशतापरक होने से ब्रह्म सदृश तू है, इस प्रकार सत्यादिक गुणों की सदृशता से वाक्यार्थ बन सकता है।

इस शंका का निरास करते हुए तत् और त्वं इन दोनों पदों में भाग त्याग लक्षणा है, यह पक्ष स्वीकार करते हैं।

**नतु मान सिद्धमपरं परोपमं निजरूप मस्य नच भाविनोऽस्तिता। श्रुतहानिरश्रुतगतिश्च नो-चितेत्युचिताद्वयोरपि हि भाग लक्षणा ॥४१॥**

जीव का ईश्वर के समान स्वरूप किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है, मोक्ष समय में माना जाय तो होने वाले में वर्तमान कर्ता का भी प्रयोग नहीं होता, श्रुति की हानि और अश्रुतका फल उचित नहीं है, इसीसे तत् त्वं दोनों पदों में भाग त्याग लक्षणा ही उचित है ॥४१॥

( अस्य ) इस जीव का ( निजरूपम् ) प्रसिद्ध रूप से भिन्न कोई अपना रूप ( परोपमं ) ईश्वर के सदृश ( न मानसिद्धम् ) किसी भी प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं होता, इसलिये त्वं तू तत् उस ईश्वर के समान है यह वाक्यार्थ नहीं हो सकता। भाव यह है कि अल्पशक्ति, अल्पज्ञ, परिच्छिन्न, अनीश, कर्म के अधीन, अविद्या मोहित, बंधमोक्ष वाला, प्रत्यक्षता अर्थात् स्थूल सूक्ष्म संघात विशिष्ट चेतन मैं हूं अथवा अंतःकरण विशिष्ट चेतन मैं हूं इस प्रकार नित्य अपरोक्षता, इतने धर्मों वाला जीव चेतन त्वंपद का वाच्यार्थ है और सर्वशक्ति, सर्वज्ञ, व्यापक, ईश,

कर्मानाधीन, मायासे अमोहित, बंध रहित, नित्यमुक्त और परोक्ष इतने धर्मों वाला ईश्वर चेतन तत् पद का वाच्यार्थ है। इन दोनों में विचार कर देखा जाय तो अराजा को राजा सदृश कहने की तरह तू ईश्वर सदृश है यह वाक्यार्थ परम विरुद्ध है। दोनों पदार्थों में सत्यादिकों की भी सदृशता नहीं है, क्योंकि विशिष्टता के वाचक सत्यादिकपद हैं और शुद्ध सत्यादिकों का उभयत्र विना लक्षणा से ज्ञान ही नहीं हो सकता। और लक्षणा से ज्ञात सत्य एक ही है और सदृश सत्य कुछ भी नहीं; क्योंकि भेद में ही सदृशता व्यवहार देखा है और कुछ विशिष्ट धर्मों को लेकर तो सर्व की सर्व में सदृशता है। इसलिये जीव को ही ईश्वर के सदृश कहना और घटको न कहना इसमें कोई विशेष कारण नहीं मिलता। तथा ईश्वर जीव सदृश है इस प्रकार उल्टा कहने में भी कोई बाधक नहीं हो सकेगा। क्योंकि जैसे तत्त्वमसि में प्रथम ईश्वरवाची तत् पद है ऐसे ही अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानमानंदं ब्रह्म अहंब्रह्मास्मि, इन वाक्यों में जीव वाची पद प्रथम हैं। और यदि सर्व वाक्यों में ईश्वर सदृश तू है ऐसे ही वाक्यार्थ का नियम करोगे तो उक्त दोष से यह वाक्यार्थ दूषित है। अतः महावाक्यों में गौणीवृत्ति मानना अपना अज्ञान प्रकट करना है।

संभव है जीवका मुक्तिकालमें ही ईश्वर सदृश रूप हो जावेगा इस शंका का अब निरास किया जाता है। (नच भाविनः अस्तिता) आगे होने वाले में वर्तमान का प्रयोग नहीं किया जाता। और तत्त्वमसि महा वाक्य में असिपद वर्तमान काल वाचक (श्रुतिहानिः अश्रुत गतिश्च न उचिता) तथा उक्त रीति से श्रुत अर्थात् तत्पद से प्रतीयमान ब्रह्म की वर्तमानता का असिपद से त्याग करना उचित नहीं है। और अश्रुत अर्थात्

कालान्तर में होने वाले रूपांतर की कल्पना भी उचित नहीं है। ( इति द्वयोःअपिहि भाग लक्षणा उचिता ) इसलिये तत्त्व और त्वम् दोनों ही पदों में भागत्याग लक्षणा उचित है ॥४१॥

अब तत् त्वं इन दोनों पदों में भाग त्याग लक्षणा का प्रकार दिखलाया जाता है—

**अपहाय न धर्मनिचयं विरोधिनं तनु बुद्धि साक्षि सदनन्त चिद्घनम्। उपलक्ष्य सोऽय मिति वाक्यवत् ततो घटयेदखंड विषये पद द्वयम् ॥४२॥**

जैसे 'वह यह है' इस वाक्य से देश काल आदि विरोधी धर्मों का त्याग कर व्यक्ति का ज्ञान होता है वैसे त्वंपद से शरीर और बुद्धि के साक्षी का और तत् पद से सत् चित् अनंत का ज्ञान होता है, पश्चात् लक्षणावृत्ति से इन दोनों पदों को चिन्मात्र अखंड में घटावें ॥४२॥

( सोऽयं इति वाक्यवत् ) जैसे सोयं देवदत्तः इस लौकिक वाक्य में तत् देश तत् काल तत् नगर तत सामग्री विशिष्ट तत् पदार्थ का और एतत् देश एतत् नगर एतत् सामग्री विशिष्ट इदं पदार्थ का परस्पर प्रतीत हुआ अभेद विरुद्ध है। इसलिये तत् और इदं इन दोनों पदार्थों में तत् त्वं देशकाल आदिक विशेषणों को त्याग करके दोनों पदों से केवल शुद्ध देवदत्त की व्यक्ति ही लक्षित होती है, और उसीके अनुसार तत् पद और इदं इन दोनों पदों का अर्थ किया जाता है; तैसे ही ( विरोधिनं

धर्म निचयं अपहाय ) तत पदार्थ और त्वं पदार्थ के निश्चित अभेद के विरोधी जो माया और अविद्या तथा माया और अविद्याकृत सर्वज्ञता आदिक और अल्पज्ञता आदिक धर्म समूह हैं, उन धर्मों को त्याग करके ( तनु बुद्धि साक्षिम् ) त्वं पद से शरीर और बुद्धि आदिकों के साक्षी चिन्मात्र भाग का ज्ञान होता है तथा ( सत्अनंतचिद्घनं ) सत्य, अपरिछिन्न चिन्मूर्ति भाग का तत् पद से ज्ञान होता है। ( उपलक्ष्य ) इस प्रकार दोनों पदों से शुद्ध भागों को लक्षणावृति से जानकर ( ततः ) अनंतर ( अखंडविषये पदद्वयं घटयेत् ) लक्षण से लक्षित एक चिन्मात्र अखंड वाक्यार्थ विषे वाक्यरूप दोनों पदों का समन्वय करे ॥४२॥

उपाधिकृत धर्मों से ही चेतन का भेद है, स्वरूप से नहीं। अतः पूर्व उक्त प्रकारसे उपाधि और उपाधिकृत धर्मों के त्यागने से दोनों ही पदों के लक्ष्यार्थ रूप शुद्ध चेतन की एकता है। यह अर्थ 'सोयं देवदत्तः' इस दृष्टांत से पूर्व कहा। अब तत् त्वं या त्वं तत् इस प्रकार सब महा वाक्यों में वेदान्ताचार्यों ने तत् त्वं पदों के लक्ष्यार्थ का परस्पर अभेद कहा है। इस उपदेश का अब प्रयोजन दिखलाया जाता है--

भुजंग प्रयात।

**परोक्षानवाप्तत्व बुद्धिं परस्मिन्नपूर्णत्व दुःखि-**
**त्वमोहं प्रतीचि। निहन्तुं निजालौकिकं चात्म**
**तत्त्वं पदे वक्तुमन्योऽन्यतः साभिलाषे ॥४३॥**

तत्पद के लक्ष्य से परोक्ष और अप्राप्त बुद्धि होती है

**उसके नाश के लिये त्वंपद की अपेक्षा है और त्वंपद के लक्ष्य में प्रतीत हुई अपूर्णता, दुःखित्व और मोह के नाश के लिये तत्पद की अपेक्षा है। इस प्रकार निज अलौकिक आत्मतत्व के कथन में तत् त्वंपद परस्पर अपेक्षा वाले हैं ॥४३॥**

( परस्मिन् ) तत् पद के लक्ष्यार्थ में श्रोता को उत्पन्न हुई ( परोक्षानवाप्तत्वबुद्धिम् ) परोक्षत्व अप्राप्तत्व बुद्धि के ( निहन्तुम् ) नाश करने के लिये त्वं पद की अपेक्षा है। भाव यह है कि तत् त्वं इस उपदेशके कहनेसे तत्पदके लक्ष्यार्थ का त्वंपद के लक्ष्यार्थ से अभेद कहा है। सो त्वं पद का लक्ष्य स्वस्वरूप होने से नित्य अपरोक्ष है तथा प्राप्त है इसलिये परोक्षत्व भ्रांतिकी तथा अप्राप्तत्व भ्रांति की निवृत्ति होजाती है। इसी प्रकार ( प्रतीचि ) त्वं पद के लक्ष्य में प्रतीत हुए ( अपूर्णत्व दुःखित्व मोहम् ) परिच्छिन्नत्व, दुःखित्व रूप भ्रम के ( निहंतुं ) नाश करने के लिये तत् पदकी अपेक्षा है। भाव यह है कि त्वं तत् इस उपदेश के कहने से त्वं पद के लक्ष्यार्थ का तत्पद के लक्ष्यार्थ से अभेद कहा है। सो तत पद का लक्ष्यार्थ व्यापक है तथा सुखरूप है. इसलिये परिच्छिन्नत्व और दुःखित्व भ्रांति की निवृत्ति होजाती है। ऐसे ही अहंब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म अयं आत्मा ब्रह्म इत्यादि उपदेशों से परिच्छिन्नत्वादिकों की निवृत्ति होजाती है और ब्रह्म अहं, ब्रह्म प्रज्ञानं, ब्रह्म आत्मा, इस उपदेश से परोक्षत्व आदिकों की निवृत्ति होजाती है। इस प्रकार सर्व महा वाक्यों में ओत प्रोत भाव जान लेना। इसी उक्त फलके लिये ही ( निजा लौकिकं चात्मतत्त्वं वक्तुं तत् त्वं पदे अन्योऽन्यतः साभिलाषे ) अलौकिक निज आत्म स्वरूप के कहने के लिये परस्पर अपेक्षा वाले

तत् त्वं पद हैं। इस कारण पदों की वैयर्थ्यता नहीं है यह कृत बुद्धि विद्वान जान लें ॥४३॥

महावाक्यों का विशिष्ट वा संसर्ग अर्थ नहीं है किंतु अखंडार्थ है यह वेदांताचार्यों को संमत है। इसलिये अब अखंडत्व का निरूपण किया जाता है—

**असंसर्गि सत्यार्थता स्यात् पदानामनन्यार्थता वाऽप्यखंडार्थतात्र। प्रसिद्धा ह्यसौ चंद्र मात्र प्रबोधात् प्रकृष्टः प्रकाशः शशीत्यादिवाक्ये ॥४४॥**

यहां पर उभय पदों में सर्वथा अन्य संसर्ग रहित वस्तु का अर्थ हो सकता है अथवा दोनों पदों से किसी एक ही अखंड वस्तु का बोध हो सकता है अथवा दोनों पद एक ही अर्थ के बोधक होंगे ? 'प्रकृष्टः प्रकाशश्चन्द्रः' इस वाक्य में चन्द्र मात्र ही का बोध होने में अखंड अर्थता ही प्रसिद्ध है ॥४४॥

( अत्र पदानां असंसर्गिसत्यार्थता अखंडार्थता स्यात् वा अनन्यार्थता ) तत्त्वमसि इत्यादि महावाक्यों में तत् त्वं आदि पदों को सर्व प्रकार से अन्य संबंध शून्य नित्यवस्तु अर्थकत्व ही अखंडार्थकत्व है अथवा जाति गुण आदि अघटित वस्तु अर्थकत्व ही अखंडार्थकत्व है। ( हि ) क्योंकि ( असौ ) उक्त प्रकार की यह अखंडार्थता ( प्रकृष्टः प्रकाशः शशीत्यादि वाक्ये प्रसिद्धा ) 'प्रकृष्टः प्रकाशश्चंद्रः' इत्यादि वाक्यों में प्रसिद्ध है। 'कः चंद्रः' इस प्रकार प्रश्नकर्ता की जिज्ञासा के अनुसार तथा

'प्रकृष्टः प्रकाशश्चंद्रः' इस प्रकार उत्तरदाता के तात्पर्य के अनुसार ( चन्द्र मात्र प्रबोधात् ) चन्द्र मात्र का ही उक्त वाक्य से प्रबोध होता है ॥४४॥

अब उक्त दृष्टांत वाक्य को चन्द्र मात्र का बोधकता व्युत्पादन की जाती है।

**प्रकर्ष प्रकाशत्व चंद्रत्वयोगव्यवच्छेदभेदादयो नैव पृष्टाः । नवा शाब्दधीरस्त्यजिज्ञासितेऽर्थे ततो वाक्यतश्चंद्रमात्रप्रबोधः ॥४५॥**

पूछने वाले ने प्रकर्ष प्रकाशत्व और चन्द्रत्व में योग अवच्छेद और भेदादिक कुछ भी नहीं पूछा । अजिज्ञासितव्य अर्थ में शाब्दबोध नहीं होता अतः इस वाक्य से चन्द्र मात्र का बोध होता है ॥४५॥

( प्रकर्ष प्रकाशत्व चन्द्रत्व योग व्यवच्छेद भेदादयोनैव पृष्टाः ) 'प्रकृष्टः प्रकाशश्चन्द्रः' इस वाक्य के तीनों पदों की प्रवृत्ति के निमित्त प्रकर्षत्व प्रकाशत्व और चन्द्रत्व हैं। इन उक्त तीनों धर्मों का चंद्र में योग अर्थात् संबंध और उक्त धर्मों से अप्रकर्ष, अप्रकाशत्व अचंद्रत्व रूप अन्य धर्मों का चंद्र में व्यवच्छेद अर्थात् असंबंध और चंद्र निष्ट अन्य पदार्थ का भेद इत्यादि में से प्रश्नकर्ता ने कुछ भी नहीं पूछा है, क्योंकि इनमें कोई भी जिज्ञासित नहीं है। और ( अजिज्ञासिते अर्थे शाब्दधीः नवा अस्ति ) अजिज्ञासित अर्थ में शाब्द बोध नहीं होता। ( ततः वाक्यतः चंद्र मात्र प्रबोधः ) इसलिये 'प्रकृष्टः प्रकाशश्चंद्रः' इस वाक्य से चंद्रमात्र का ही बोध होता है।

भाव यह है कि किसी ने प्रकृष्ट और निकृष्ट ज्योतीओं का समूह देखकर पूछा कि इनमें चंद्र कौन है। प्रष्टा को इस उक्त प्रश्न से चंद्र व्यक्ति मात्र ही जानना इष्ट है। इसलिये शुद्ध चंद्र ही उक्त प्रश्न का विषय है। इस प्रकार उत्तरदाता ने प्रश्न के विषय का विचार से निर्णय करके उस प्रष्टा की जिज्ञासा की निवृत्ति अर्थ जिज्ञास्य मात्र के बोधन तात्पर्य से उक्त प्रश्न के उत्तर में ही 'प्रकृष्टः प्रकाशश्चंद्रः' इस वाक्य का उपदेश किया है। इसी प्रकार दार्ष्टान्त में भी जान लेना ॥४५॥

अबऋगवेदगत 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इस महा वाक्य का भी उक्त प्रकार से अखंड अर्थ ही है यह स्पष्ट किया जाता है--

वसंत तिलका छन्द।

**यः प्राग्विसृज्य भुवनं तनुमाविवेश यः पंच भूत सुरमानुषतिर्यगात्मा। येनावलोकयति वक्त्यभिमन्यते च प्रज्ञान मात्र विभवोऽहमसौ परात्मा ॥४६॥**

जिसने सृष्टि के आदि में लोकों को उत्पन्न करके शरीरों में प्रवेश किया है, जो पंचभूत, देव, मनुष्य, पशु आदि रूप है, जिससे अवलोकन करता है और वाणी से बोलने का अभिमान करता है वह परमात्मा स्वरूप ज्ञान मात्र का ऐश्वर्यवान मैं हूं ॥४६॥

(यः) जो परमात्मा (प्राक्) सर्ग के आदिमें (भुवनं विसृज्य) सहित अंगों के सर्व लोकों को उत्पन्न करके (तनुम्

आविवेश ) शरीर में प्रविष्ट हुआ है, अर्थात् अन्तःकरण अवच्छिन्न हुआ है। क्योंकि व्यपक वस्तु रूप ब्रह्माकाश का और कोई प्रतिबिंबादि रूप प्रवेश शब्द का अर्थ संभव नहीं है, (यः) जो परमात्मा ( पंचभूतसुरमानुष तिर्यगात्मा ) पंचभूत, देवता, मनुष्य, पशु आदि रूप है। क्योंकि आकाश आदिक पंचभूत भी ब्रह्म के ही विवर्त्त हैं, ( येन ) जिस प्रत्यक् चैतन्य रूप निमित्त मात्र से ( अवलोकयति ) चक्षु इंद्रिय से देखने का अभिमान होता है तथा ( वक्ति अभिमन्यते च ) वाक् इंद्रिय से वचन बोलने का अभिमान होता है अर्थात् जिस चैतन्य रूप प्रत्यक् आत्मा की सत्ता पाकर इंद्रियों और अन्तः-करण से दर्शन, वचन आदि तथा अभिमान होते हैं, ( असौ परात्मा प्रज्ञान मात्र विभवः अहम् ) सो यह परमात्मा स्वरूप ज्ञान मात्र ऐश्वर्यवान् मैं हूं। अर्थात् स्वरूप ज्ञान ऐश्वर्यक परमात्मा से मैं अभिन्न हूं अर्थात् मैं ही परमात्मा हूं ॥४६॥

अब यजुर्वेद गत अहं ब्रह्मास्मि इस महा वाक्य का भी अखंड अर्थ ही है यह दिखलाया जाता है—

**यद्व्याकृतं जगद्भूत्तमसा नखाग्राद्यश्च प्रविष्ट तनुकृत्स्नमकृत्स्नमासीत् । प्रेयस्तदेव परमं परमार्थतोऽहं ब्रह्मास्मि तद्विदितवद्धि तदेव सर्वम् ॥४७॥**

जो माया द्वारा जगत्रूप हुआ है, जो सब रूप हुआ भी नख के अग्रभाग तक शरीरों में प्रविष्ट हुआ है वह

प्रत्यगात्मा देव प्राणादि से भी प्यारा है, वह परमार्थ से मैं हूं ऐसा जानता है वह सर्वरूप ब्रह्म ही होता है ॥४७॥

( यत् तमसा व्याकृतं जगत् अभूत ) जो ब्रह्म तमः प्रधान माया से स्पष्ट नाम रूप वाला विविधाकार जगत् रूप हुआ क्योंकि यह सर्व जगत् ब्रह्मका ही विवर्त है, ( यच्च नखाग्रात् प्रविष्ट तनु कृत्स्नं अकृत्स्नं आसीत् ) जोब्रह्म सर्वरूप हुआभी ब्रह्मादिस्तंब पर्यन्त देहोंमें अस्पष्ट नाम रूपको स्पष्ट करके नखके अग्रभागतक इन शरीरों में प्रविष्ट हुआ अर्थात अंतःकरणावच्छिन्न हुआ। जैसे सर्व काष्ठ आदिकों में व्यापक अग्नि जाठरत्वरूप के अवच्छेद भाव को प्राप्त हुआ है तैसे व्यापक ब्रह्म आत्मा द्रष्टा, श्रोता, मंता आदि अवच्छेद भाव को प्राप्त हुआ है। इसी तात्पर्य से अकृत्स्न कहा है। अर्थात् अज्ञान से सो सर्व रूप ब्रह्म ही शरीरों में प्रवेश होकर अर्थात् अंतःकरणावच्छिन्न होकर परिच्छिन्न संसारी जीव रूप हुआ है। इसलिये ( प्रेयस्त देवपरमम ) सो प्रत्यगात्मस्वरूप सर्व प्राण पिंडसमुदाय से अन्तरतर परम ब्रह्म ही पुत्र से, दैव मानुष शब्दित अपर ज्ञान, सुवर्णादिक धन से स्थूल शरीर से, इंद्रियों से तथा प्राणों से अतिशय प्रिय है। इस कारण प्रत्यगात्मा रूप ( तत् ) वह ब्रह्म ही ( परमार्थतः ) वास्तव में ( अहंब्रह्मास्मि ) 'मैं ब्रह्म हूं', इस प्रकार ( विदितवत् ) स्वात्मसाक्षात्कार करता है। भाव यह है कि मुमुक्षुता भी ब्रह्म को ही हुई है। शरीर में स्थित प्रमाता आदिकों का साक्षीरूप त्वंपद का लक्ष्य रूप यह प्रत्यगात्मा ज्ञान से प्रथम भी ब्रह्म ही था। फिर वही ब्रह्म अविद्या विशिष्ट रूप से अधिकारी रूप से स्थित हुआ है। अतएव, तू संसारी नहीं है किंतु सर्व धर्मों से रहित चिदानंद एक रस ब्रह्म ही तू है।

इस प्रकार स्वाज्ञान कल्पित दयालुतादिक गुणगणान्वित आचार्य ने उपदेश किया, तब उस मुमुक्षु रूप ब्रह्म ने ही 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार अपने स्वरूप को जाना। इसलिये ( तत् एवहि सर्वम् ) वह ब्रह्म ही सर्व रूप हुआ है, अर्थात् वह ब्रह्म अपने स्वरूप ज्ञान से ही अपने में अध्यारोपित अविद्या को निवृत्ति से सर्व ही अविद्या कार्य की निवृत्ति हो जाने पर अपनी स्वभाविक सर्वत्वता को प्राप्त हुआ है।

इस श्लोक के पूर्वार्ध से दोनों तत् और त्वं पदार्थों के वाच्यार्थ सूचित किये हैं और कृत्स्न इस पद से लक्ष्यार्थ सूचित किया है और उत्तरार्ध से वाक्यार्थ सूचित किया है यह विभाग भी जानलेना ॥४७॥

कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखा की उपनिषत् में 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः' इस वचन से ब्रह्मात्मा की एकता स्पष्ट ही कही है, इस अर्थ के स्पष्ट करने के लिये तैत्तिरीयोपनिषत् के उक्त वचन को यहां श्लोक में अर्थतः संग्रह किया जाता है--

**यश्चायमत्र पुरुषे प्रथते गुहान्तर्यश्चाप्रमेय सुखभूः सवितुश्च बिम्बे। एकः स इत्यभिदधुः स्फुटमैक्यमेके तद्वेदनाच्च विलयं जगतश्च तत्र ॥४८॥**

जो यह प्रत्यगात्मा गुहा के मध्य में है ऐसा प्रसिद्ध है और जो सविता के प्रतिबिम्ब में अप्रमेय सुख स्वरूप रहा हुआ है, वे दोनों एक ही हैं, ऐसा एक शाखा वाले

स्पष्ट रूप से कहते हैं और उसके जानने से ही जगत् का उसी में लय होता है ऐसा भी वे कहते है ॥४८॥

( गुहान्तर्यः ) जो यह प्रत्यक्ष साक्षी रूप प्रत्यगात्मा पंच कोश रूप गुहा के मध्य में गुहानिहित शब्द से श्रुति में कहा है और ( यश्चायं अत्र पुरुषे प्रथते ) जो यह प्रत्यगात्मा इस प्रसिद्ध शरीर में अर्थात् व्यष्टि उपाधि में वर्तमान है। भाव यह है कि आकाशादि पृथिवी तक के कार्य को रच कर उस कार्य रूप शरीर में प्रविष्ट हुआ साक्षी रूप से वह प्रकाशमान है। इतने वाक्य से त्वं पद का वाच्य अर्थ तथा लक्ष्यार्थ कहा गया है, ऐसा जान लेना। अब तत्पद के वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ को कहते हैं—( यश्च अप्रमेय सुखभूः सविलुश्च बिम्बे ) जो यह प्रकृत ब्रह्म है तथा सर्व कामनाओं से रहित अनंत आनन्दघन अर्थात् लौकिकानंदों की सीमा रूप से विवेचित मायावच्छिन्न परमानन्दरूप ब्रह्म सविता के बिम्ब में अर्थात् सूर्यमंडल में ( प्रथते ) प्रसिद्ध प्रकाशमान है अर्थात् समष्टिलिंग उपाधि में वर्तमान है, ( स एकः ) सो यह द्विविध कहा हुआ भी आनंदआत्मा एक है। जैसे भिन्न देशस्थ घट मठाकाश अवकाश स्वरूप से एक है, तैसे ही उपाधि भेद से दो प्रकार से स्थित हुआ भी यह परमानंद स्वरूप आत्मा सत् चित् आनंदरूप से भेदरहित है। ( इति स्फुटं ऐक्यं एके अभिदधुः ) इस प्रकार एक कोई तैत्तिरीय शाखा वाले ब्रह्म और आत्मा दोनों की एकता को स्पष्ट कहते हैं। इतने कहने से वाक्यार्थ कहा गया जान लेना। ( तद्वेदनात् च तत्र जगतः विलयं च ) अब इस प्रकार अपर शाखा वाले आत्म साक्षात्कार से जगत् का विलय भी उस आत्मा में ही कहते हैं अर्थात् ब्रह्मवेत्ता अन्नमय, प्राणमय,

मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय इन पांचकोश रूप जगत् का बाध भी उस आत्मा में ही करते हैं, यह वार्ता भी तैत्तिरीय शाखा वाले ही कहते हैं। भाव यह है कि इससे भी ऐक्यता ही दृढ़ होती है, क्योंकि आत्मा परमात्मा के एक होनेपर ही जगत् के द्वैत की शंका दूर होती है। बाधित मिथ्या वस्तु अपने अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती ॥४८॥

अब सामवेद के छांदोग्योपनिषत् के छठे अध्याय में नौ बार उपदेश किये हुए तत्त्वमसि महावाक्य का स्पष्टीकरण तात्पर्य उद्भावन द्वारा सिंहावलोकन न्याय से आगे के दश श्लोकों में किया जाता है--

**आसीत् सदेव हि भवाननृतं विधाय तेजोमुखं तदभिमत्य बभूव जीवः। देहान्तशुंगमवधूय विलोकय स्वं सद् ब्रह्म तत्त्वमसि बोध सुखा-द्वितीयम् ॥४९॥**

सृष्टि के पूर्व तू सत्‌रूप ही था। फिर मिथ्या तेजादि भूत को उत्पन्न करके उनमें अभिमान करके जीव हुआ। देह के अन्त तक संपूर्ण कार्यों का तिरस्कार करके अपने को देख। वह बोधस्वरूप सुखस्वरूप अद्वय और सत्‌रूप ब्रह्म तू है ॥४९॥

इस तत्त्वमसि महावाक्यके उपदेश करनेवाला आरुणिऋषि है और श्रोता आरुणिऋषि का पुत्र श्वेतकेतु है। ( भवान् सदेव आसीत् ) हे श्वेतकेतो, सृष्टि से पूर्व तुम सत् रूप ही थे।

( अनृतं तेजोमुखं विधाय ) उसके अनंतर शुक्तिरजत की न्याईं मिथ्यारूप तेज:प्रभृति यानी अग्नि आदिक भूत जात को यथा क्रम से उत्पन्न करके ( तदभिमत्य ) उन तेज:प्रभृति भूतों का कार्य होने से भूतमय शरीर आदिकों में आत्मरूप अभिमान करके ( जीवः बभूव ) तू सत् रूप ब्रह्म ही जीव हुआ है। ( देहान्त शुंगं अवधूय ) इस कारण, हे श्वेतकेतो, तू अपने स्वरूप ज्ञान द्वारा सर्व ही देह पर्यंत के अंकुरों को अर्थात् कार्य समुदाय को मिथ्यात्वतया तिरस्कार करके अर्थात् बाध करके ( स्वं विलोकय ) परमार्थ निज स्वरूप को देख अर्थात् 'वह सच्चिदानन्द ब्रह्म मैं हूं' इस प्रकार अपने परमार्थ स्वरूप का साक्षात्कार कर। ( बोधसुखाद्वितीयं सत् ब्रह्म तत्त्वमसि ) जो ज्ञान स्वरूप, आनंद स्वरूप, अद्वैत स्वरूप, सर्व श्रुति प्रसिद्ध सत्रूप ब्रह्म है ( तत् ) सो ब्रह्म (त्वं) तू ही ( असि ) है ॥४९॥

प्रथम यह कहा गया था कि दिन दिन में अर्थात् नित्य प्रति यह सर्व प्रजा सुषुप्ति में सत् स्वरूप ब्रह्मात्मा को प्राप्त होती है। फिर यह प्रजा हम सत् को प्राप्त हुए हैं इस प्रकार क्यों नहीं जानती है। इस प्रकार की श्वेतकेतु की शंका को उद्दालक दृष्टांत से दूर करते हैं। उस सब समाधान का इस श्लोक से संक्षेप किया जाता है—

**संपद्य यत्र मधुनीव रसाः सुषुप्तौ सौख्यैकरस्य मधिगम्य जना न विद्युः। यत् प्रच्युताः पुन रमी बहुदुःखभाजः सद् ब्रह्म तत्त्वमसि नासि कदापि दुःखी ॥५०॥**

जैसे मधुमक्षिका अनेक रसों का मधु बनाती है वैसे प्रति दिन सुषुप्ति में मनुष्य जिस सत्यरूप ब्रह्म में सुखरूप एकरस होता है फिर भी अपना सत्‌रूप नहीं जानते और जिससे हट कर बहुत दुःखी होते हैं, हे श्वेतकेतो, वह सत् ब्रह्म तू है ॥५०॥

( संपद्य मधुनि इव रसाः ) जैसे मधुकर मक्षिका जब अनेक प्रकार के फलों वाले भिन्न २ दिशा में स्थित वृक्षों का रस एकत्र करके उन रसों को मधुरूप कर देती है फिर वे अनेक प्रकार के वृक्षों के अनेक प्रकार के रस मधु में पृथक् नहीं जानते कि–'मैं आम्र वृक्ष का रस हूं. मैं पनस यानी कटहल वृक्ष का रस हूं, तैसे ही ( सुषुप्तौ जनाः यत्र सौख्यैकरस्यं अधिगम्य न विद्ुः ) प्रतिदिन सुषुप्ति में यह प्रजा उस सत् रूप ब्रह्म में सत् रूप सुख भावतया एक रसता को अर्थात् एकता को प्राप्त होकर के भी फिर अपनी सत् सुखरूपता को नहीं जानती है, कि हम सत् को प्राप्त हुए हैं।

शंका––यदि सुषुप्ति में सर्व प्रजा सत् ब्रह्म को ही प्राप्त होती है तो प्रजा का विना ही परिश्रम से कैवल्य मोक्ष प्राप्त हुआ अब फिर पुनः वह प्रजा उत्थान होकर अपने अपने शरीर को क्यों प्राप्त होगी ?

समाधान—मूलाज्ञान के होते हुए ही प्रजा के ज्ञाता, ज्ञेय आदिक भेदों का अज्ञान में लय होकर सत् ब्रह्म में एकता हुई है इस कारण सुषुप्ति से पहले कर्म वश जिस जिस व्याघ्र, सिंह, वृक, वराह, कीट, पतंग, दंश, मशक आदि शरीर वाले ये जीव

थे, फिर सुषुप्ति से उत्थान होकर उसी उसी शरीर वाले होते हैं, क्योंकि सत् आत्मा को न जानकर यह जीव सुषुप्ति में सत् को प्राप्त हुए हैं। इस तात्पर्य से कहते हैं कि ( यत् प्रच्युताः पुनः अमी बहुदुःखभाजः ) जिस सत् रूप ब्रह्मसे प्रच्युत हुए अर्थात् असत् रूप के अनुसंधान युक्त हुए ये जीव बहुत दुःखी होते हैं अर्थात् कर्म वश पुनः शारीरिक दुःखों को भोगते हैं, ( सत् ब्रह्म तत्त्वमसि ) हे श्वेतकेतो, सो सत् रूप ब्रह्म तू है, ( नासि कदापि दुःखी ) तू दुःखवान् संसारी कदाचित भी नहीं है। भाव यह है कि सुषुप्ति में सत् रूपता के प्राप्त होने पर भी अज्ञान का आवरण होने से वहां आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता। जाग्रत और स्वप्न में भी असंख्य अज्ञान कार्यों का आवरण होता है ॥५०॥

सत् से च्युत होकर जाग्रत आदिकों में मैं सत् से आया हूँ इस प्रकार से यह जीव क्यों नहीं जानता, इस शंका का समाधान भी दृष्टांत से ही किया जाता है—

**अब्धिर्यथा जलधरैरपनीय नीतो नद्यादि भाव मुदधित्वमतिं जहौ स्वाम्। एवं भवानुपधिभिः खलु विस्मृतः स्वं सद् ब्रह्म तत्त्वमसि संस्मर पूर्ण भावम् ॥५१॥**

जैसे समुद्र मेघों को भिन्न करके नदी भाव को प्राप्त हुआ अपनी समुद्रबुद्धि को त्याग देता है इस प्रकार शरीरादिक उपाधियों से तू अपने सत् स्वरूप को भूला

हुआ है, 'वह सत् ब्रह्म तू है' ऐसे पूर्ण भाव को स्मरण कर ॥५१॥

( यथा ) जैसे ( अब्धिः ) समुद्र को ( जलधरैः ) मेघ ( अपनीय ) दूर ले जाकर ( नद्यादि भावं नीतः ) गंगादि नदी भाव को प्राप्त कराते हैं तब वह ( स्वां उदधित्वमतिं जहौ ) अपनी समुद्र बुद्धि को त्याग देता है, भाव यह है कि जैसे समुद्र से प्रथक् हुआ समुद्र का जल 'मैं समुद्र हूं' इस प्रकार अपने परमार्थ रूप को स्मरण नहीं करता—( एवं ) तैसे ही, हे श्वेतकेतो, ( भवान् उपधि भिः स्वविस्मृतः खलु ) तू शरीरादिक उपाधियों से निज सत्स्वरूप की विस्मृति वाला हुआ है, इस कारण अपने सत रूप को स्मरण नहीं करता है, ( सत् ब्रह्म तत्त्वमसि ) सो सत् रूप ब्रह्म तू ही है ( संस्मर पूर्ण भावम् ) तू अपने परिपूर्ण सत् रूप को स्मरण कर। भाव यह है कि समुद्र समुद्रावस्था में भी समुद्र ही है और मेघों के व्यापार नदी आदि भाव को प्राप्त हुआ भी समुद्र ही है अर्थात् सो समुद्र नदी भाव को प्राप्त हुआ अपने समुद्र भाव का स्मरण करे तब भी समुद्र ही है और नहीं स्मरण करे तब भी समुद्र ही है। तैसे ही यह जीव भी अज्ञान के कारण सत् से वियुक्त होकर अर्थात् जाग्रत आदि दशा को प्राप्त होकर अपने को सत् रूप स्मरण करे तो भी सत् रूप ही है और न स्मरण करे तो भी सत रूप ही है। इसलिये सो सत् रूप ब्रह्म तू है इस प्रकार मुझसे श्रवण करके वह परिपूर्ण ब्रह्म मैं ही हूँ ऐसा स्मरण कर अर्थात् निश्चय कर ॥५१॥

जीवों की अग्नि विस्फुलिंगादि दृष्टान्त से सत् से ही उत्पत्ति होती है तथा सत् में सुषुप्ति में लय बतलाया है। इसलिये जैसे

अग्नि विस्फुलिंग जलबुदबुद फेनादिकों के कारणभूत अग्नि का जल भाव को प्राप्त होने से विनाश ही देखा है। तैसे सत् को प्राप्त होकर जीव भी नाशको ही प्राप्त होंगे और सत ब्रह्म विकारी होगा, इस शंका की निवृत्ति भी दृष्टान्त से की जाती है।

**जीव प्रहीण तरु शोष विशेष लिंगादात्मा परोऽस्ति तनुतः स च नित्य एकः। विद्धचैतदात्म्यमखिलं वितथद्वितीयं सद् ब्रह्म तत्त्वमसि मुंच विभेदमोहम् ॥५२॥**

जीव से रहित हुआ वृक्ष सूख जाता है, इसी प्रकार देह से आत्मा पृथक् है तथा वह आत्मा नित्य और एक है ऐसा विदित होता है। इसी से यह संपूर्ण द्वैत रूप मिथ्या जगत् आत्मा ही है और वह सत ब्रह्म तू है ऐसा जान भेद भ्रांति को छोड़ दे ॥५२॥

हे श्वेतकेतो, इस वृक्ष के मूल में परशु मारे तब भी रस टपकता है और मध्य में मारे तब भी रस टपकता है और अग्रभाग में मारे तब भी रस टपकता है, क्योंकि वृक्ष भी जीव सहित है और अपनी जड़ों से जल को पीता हुआ हरा भरा स्थित है। (जीव प्रहीण तरु शोष विशेष लिंगात्) जीव से रहित हुआ [illegible] सूख जाता है, फिर परशु आदिकों के प्रहार से रस को नहीं [illegible]ड़ता और न जड़ों से जल को ही पीता है। जीव वृक्षसे न्यारा [illegible]है। वृ[illegible] के जिस जिस शाखा आदि रूप अवयव से जीव

निकल जाता है वही वही शाखा आदि अवयव सूखता जाता है और जब सारे वृक्ष से निकलता है तब सारा ही वृक्ष सूख जाता है। इस जीव रहित वृक्ष के सूखने रूप लिंग से वृक्ष आदिकों से आत्मा पृथक् है ऐसा सिद्ध होता है, तैसे ही, ( तनुतः परोऽस्ति आत्मा ) देह से आत्मा पृथक् है। ( स च नित्यः एकः ) और वह आत्मा नित्य है तथा एक है आत्मा की उत्पत्ति और प्रलय तो देह के ग्रहण तथा परित्याग से हैं परमार्थ से नहीं। आत्मा की अनेकता भी उपाधि से ही है, है परमार्थ से नहीं। इस कारण, हे श्वेतकेतो, ( एतदात्म्यं अखिलं वितथद्वितीयं विद्धि ) यह संपूर्ण मिथ्या द्वैतरूप जगत इस प्रकार का है ऐसा तू जान। इससे आत्मा में विकारिता तथा अनेकता का निषेध हुआ ( सत् ब्रह्म तत्त्वमसि मुंच विभेद मोहम् ) वह सत् रूप ब्रह्म तू है इससे तू भेद भ्रांतिको त्याग॥५२॥

पूर्व आत्मा सत् विचार रहित, तथा अति सूक्ष्म अविनाशी तथा नित्य कहा।

शंका—पूर्व उक्त उपदेश से जगत् की अनित्यता तथा स्थूलता सूचन की वह, ब्रह्म जगत् का उपादान है, इस सिद्धांत में असंभव है, क्योंकि अत्यन्त सूक्ष्म को अत्यन्त स्थूल की उपादानता नहीं हो सकती। इस शंका का समाधान भी दृष्टांत से किया जाता है—

**धानान्तरुन्नततरोरुवटः पुरेव यस्मिन्निदं जगद-वस्थितमाविरासीत् । श्रद्धावता समधिगम्य मणोरणीयः सद् ब्रह्म तत्त्वमसि सत्यमसत्य-मन्यत् ॥५३॥**

उस बीज में ही बहुत उंचा स्थूल वट का वृक्ष है। उत्पत्ति के पूर्व जो स्थित था वही अब उत्पन्न हुआ है श्रद्धा वाले अधिकारी से सूक्ष्म से सूक्ष्म सत् जानने के योग्य है। वह ब्रह्म तू है, अन्य सब असत् है ॥५३॥

श्वेतकेतु से पिता ने कहा कि, हे प्रियदर्शन, तू इस वटसे एक वट के फल को ला तब पुत्र ने आज्ञा पाकर फल को लाकर कहा कि मैं फल ले आया हूं। तब पिता ने कहा इसे भेदन कर पुत्रने उसका भेदन कर दिया तब पिता ने कहा कि हे सोम्य, इस भेदन किये हुए फलमें तुम क्या देखते हो तब पुत्रने कहा कि इसमें अत्यंत सूक्ष्म वट के बीजों को देखता हूं। तब पिता ने कहा कि इन सूक्ष्मतर बीजों में से भी एक बीज का भेदन कर। पुत्र ने वैसे ही किया तब पिता ने पूछा तू इसमें क्या देखता है? पुत्रने कहा कुछ नहीं देखता पिता ने कहा कि हे प्रियदर्शन, ( धानान्तः ) इस वट के बीजमें ही ( उन्नत उरु वटः ) अति ऊंचा और स्थूलतम वट का वृक्ष है। अर्थात् जैसे अत्यन्त सूक्ष्म वट के बीज में पूर्व स्थित हुआ ही वट पश्चात् आविर्भूत होता है, तैसे ही ( यस्मिन् पूरा अवस्थितं इदं जगत् आविः आसीत् ) उत्पत्ति से पहले स्थित हुआ ही यह जगत् पश्चात् प्रकट हो गया है। ( श्रद्धावता ) अतः श्रद्धा वाले अधिकारी ही अर्थात् विश्वासवान् जिज्ञासु ही ( अणोः अणीयः ) सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम सत् रूप ब्रह्म ( अधिगम्यम् ) जान सकता है। ( सत् ब्रह्म तत्त्वमसि ) वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम सत रूप ब्रह्म तू है और ( सत्यं असत्यं अन्यत् ) इस कारण कारण रूप तू ब्रह्म ही सत्य हैं और तुम्हारे से भिन्न यह सर्व कार्य वर्ग

असत्य है। इससे अद्वैत सत् चित् आनंद रूप ब्रह्म मैं हूं इस प्रकार निश्चय कर ॥५२॥

यदि सत् ब्रह्म जगत् का मूल कारण है तो वह प्रतीत क्यों नहीं होता ? यदि वह सत् प्रत्यक्ष के अयोग्य है ऐसा कहा जावेगा तो साधनों की निष्फलता प्राप्त होगी। इस शंका का भी दृष्टांत से ही समाधान किया जाता है—

**अप्सु प्रलीनमिव सैन्धवखिल्यमक्षणा पश्यन्ति यन्न करणैरपि हृद्विभातम्। विन्दन्ति यद्‌ रसनयेव रसं गुरूक्त्या सद्‌ ब्रह्म तत्त्वमसि दृश्य मिदं तु न त्वम् ॥५४॥**

जल में लीन हुआ नमक का टुकड़ा नेत्र से देखा नहीं जाता, तैसे ही हृदय में प्रकाशमान साक्षी विवेक के अभाव से जाना नहीं जाता। जैसे जल में रहा हुआ नमक रस जिव्हा से जाना जाता है ऐसे गुरु के उपदेश द्वारा वह सत्य ब्रह्म तू है और यह दृश्य शरीरादिक तू नहीं है ऐसे जाना जाता है ॥५४॥

तब पिताने कहा कि हे प्रिय दर्शन, इस लवणको जल पूरित घटमें डालो, फिर रात के बाद कल मेरे पास आना। तब श्वेतकेतु ने वैसा ही किया। दूसरे दिन प्रातः काल में अपने पास प्राप्त हुए श्वेतकेतु से पिता ने कहा कि जो कल दिनमें तुमने इस जलपूरित घटमें लवण डाला था उसको निकाल लाओ। पुत्र

श्वेतकेतु, जैसे पहले पिंडरूप लवण था वैसे उसको दर्शन स्पर्शन प्रयत्न से भी न जानसका। तब पिता ने कहा कि ( अप्सु प्रलीनंसैन्धवखिल्यं इव अदृशा न पश्यंति ) जैसे जलमें संश्लिष्ट हुए अर्थात विलीन हुए लवण के टुकड़े को, तुम्हारी क्या बात रहा प्रगल्भ पंडितजन भी नेत्रों द्वारा वा त्वचा से नहीं जान सकते वैसे ही, ( यत् हृदि भातम् ) जो सत् ब्रह्म हृदय में साक्षी स्वप्रकाशरूप से प्रतीत होता है ( करणैः न पश्यंति ) नेत्र आदिक करणों द्वारा उस सत् ब्रह्म को पंडित जन भी नहीं जान सकते हैं। तब उस सत् ब्रह्म की उपलब्धि का क्या साधन है ? इस जिज्ञासा की निवृत्ति भी दृष्टांत से ही की जाती है। जब पुत्र नेत्रादिकों से जलमें पूर्ववत् लवण का पिंड न देखसका, तब पिता ने कहा कि, हे प्रिय दर्शन, तू अब इस जलके ऊपरीभाग से ही जलको लेकर आचमन कर। तब पुत्र ने तैसे ही किया। तब पिता ने पूछा हे पुत्र यह जल कैसा है ? तब पुत्र ने कहा खारी है। तब पिता ने कहा कि अब जलके मध्य भागसे जल लेकर आचमन कर। तब पुत्रने वैसेही किया। तब पिता ने पूछा यह जल कैसा है ? तब पुत्र ने कहा कि खारी ही है। तब पिता ने कहा कि अब नीचे के भागसे जलको लेकर आचमन कर। पुत्र ने वैसे ही किया। पिता ने पूछा यह जल कैसा है ? तब पुत्र ने कहा कि खारी ही है। तब पिता ने कहा कि ( रसनया इव रसम् ) हेप्रिय दर्शन, जैसे इस जलमें लवण है परंतु इस जलस्थ रसको अर्थात् लवण को केवल रसना इंद्रिय से ही—( विंदंति ) जानते हैं, वैसे ही कारण रूप ब्रह्मात्मा इस शरीरमें ही वर्तमान है। परंतु ( गुरु उक्त्या विंदंति ) गुरु के उपदेश द्वारा ही जिस सत्रूप स्वयं प्रकाश आत्मा को जानते हैं ( सत् ब्रह्म तत्त्वमसि ) वह सत् रूप ब्रह्म

तू ही है। ( इदं दृश्यं तु त्वं न ) तू यह दृश्यरूप नहीं है ! अर्थात् यह दृश्यमान पांच भौतिक शरीर तू नहीं है ॥५४॥

सत् गुरुओं का उपदेश संसारबंधन से छुड़ाने वाला है इस अर्थको ही अब दृष्टांत से स्पष्ट किया जाता है।

**चौरैरिवासि पुरुषो विपिने विसृष्टो रागादिभिस्तनुषु नद्धविशुद्धदृष्टिः। पान्थैरिवैष गुरुणासि विमुक्तबंधः सद् ब्रह्म तत्त्वमसि याहि सुखं स्वधाम ॥५५॥**

जैसे किसी पुरुष को चोरो ने आंखें बांधकर वस्त्राभूषण रहित करके जंगल में छोड़ा हो और वहां उसे कृपालु पथिक पुरुष आंख खोलकर रास्ता बताता है, जिससे वह स्वस्थान को प्राप्त होता है, तैसे राग द्वेषादि चोरों ने तेरी स्वस्वरूप की दृष्टि को बांधकर, निर्मलता आदि का हरण करके तुझे संसार में छोड़ा है वहां से दृष्टि खोलकर उपदेश देते हैं कि वह सत् ब्रह्म तू ही है, इससे तू स्वस्वरूप धाम को प्राप्त होगा ॥५५॥

( चौरैः इव पुरुषः विपिने ) जैसे अपने निज देश विशेष से दूर देश में लाकर किसी धनी पुरुष के नेत्र बांध करके उसे घोर वन में चोरों ने छोड़ दिया और उस पुरुष के सर्व भूषणों को हर लिया हो ( रागादिभिः नद्धविशुद्धदृष्टिः पुरुषः तनुष विसृष्टोऽसि ) वैसे ही राग द्वेष आदिक चोरों ने स्वस्वरूप रूप

अपने निज देश से तुझे पृथक् करके और शुद्ध स्वरूप बोध रूप तेरे नेत्रों को बांध करके और निर्मलत्व आदिक तेरे भूषणों को हर करके दुःख बाहुल्य सहाय शून्य नाना योनि के शरीर रूप बन में तुझे छोड़ दिया है। जिसके सर्व भूषण छिन गये हैं, ऐसे बद्धनेत्र जंगल में पड़े हुए धनी पुरुष के नेत्रों को (पांथैःइव) कृपालु पथिक पुरुषने खोल करके कहा कि इस दिशा में तेरा देश है इस दिशा को चला जा। तब वह पुरुष पथिकों द्वारा नेत्र बंधन हट जाने से उन्हीं के उपदेश से विदित हुए मार्ग से ग्राम से ग्रामान्तर पूछता पूछता निज देश को प्राप्त हो गया, क्योंकि पथिकों के उपदेश किये हुए मार्ग रूप अर्थ के ग्रहण करने में वह समर्थ था तथा स्वयं भी ऊहापोह में कुशल और समर्थ था। तैसे ही, (एष गुरुणा विमुक्त बंधोऽसि) रागद्वेष पुण्य पाप आदिक तस्करों से अनेक अनर्थ युक्त देह अरण्य में मोह पटल से बद्ध विवेक दृष्टि वाला दैवयोग से अर्थात् अपने अज्ञान पुण्य पुंज प्रभाव से प्राप्त श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु द्वारा तू बंधनों से रहित है, तू सच्चिदानन्द परिपूर्ण ब्रह्म रूप है' इत्यादि प्रकार से उपदेश किया हुआ अति सूक्ष्म रूप भी ब्रह्म तत्त्व को 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूं इस प्रकार जान जाता है। इस कारण, हे प्रिय दर्शन, (सत् ब्रह्म तत्त्वमसि) वह सत् रूप ब्रह्म तू ही है। तू बुद्धिमान् है इसलिये मेरे उपदेश से 'वह ब्रह्म मैं ही हूँ' इस प्रकार निश्चय कर और उस निश्चय से (सुखं स्व धाम याहि) अपरिच्छिन्न परमानन्द स्वरूप स्वस्वरूप भूत निज धाम को प्राप्त हो ॥४५॥

शंका—जैसे अज्ञानी वाक् आदिकों के लय क्रम से मृत्यु (मरण) को प्राप्त होकर पुनः जन्म बंधन में ही आजाता है, क्या तैसे ही ज्ञानी भी जन्म बंधन में आजाता है वा नहीं?

समाधान—ज्ञानी मूढ़ पुरुष की तरह फिर जन्म बंधन में नहीं आता है क्योंकि ज्ञानी के जन्म के बीज रूप काम, कर्म, अविद्या आदि ज्ञान से दग्ध हो गया है।

यही अर्थ दिखलाया जाता है—

**संपद्य यत्र करणादिलयक्रमेण मूढो मृतः पुनरुपैति जनि प्रबन्धम्। प्राज्ञस्तु वंचयति मृत्युमुदस्तमोहः सद् ब्रह्म तत्त्वमसि निस्तर मृत्यु बन्धम् ॥५६॥**

अज्ञानी मनुष्य, इंद्रिय आदिक का क्रम से लय होकर मृत्यु होने के बाद फिर जन्म बन्धन को प्राप्त होता है। मोहरहित ज्ञानी पुरुष मृत्यु को ठगता है। वह सत् ब्रह्म तू ही है इस प्रकार जान मृत्यु के बंधन से तैर जा ॥५६॥

( मूढः करणादिलय क्रमेण यत्र संपद्य मृतः पुनः जनि प्रबंधं एति ) अनात्मज्ञ पुरुष इन्द्रियादिकों के लय क्रम से अर्थात् मरण काल में वाक् आदिक इन्द्रिय मन में लय होजाते हैं, मन अध्यात्मिक प्राण में लय होजाता है, प्राण भौतिक तेज में लय होजाता है और तेज सत् रूप ब्रह्म देवता में लय होजाता है। इस प्रकार वाक् आदिक इन्द्रियों के लय क्रम से जिस परमात्मा रूप सद् ब्रह्म में प्राप्त हो करके मरण से अनन्तर भी काम, कर्म, अविद्या के सद्भाव होने से जन्मों की परंपरा रूप जन्म बंधन को प्राप्त होता है। ( उदस्त मोहः प्राज्ञस्तु मृत्यु वंचयति ) परन्तु अज्ञान से रहित आत्मज्ञ पुरुष मूढ़ के सदृश ही

उस सत् रूप परब्रह्म में प्राप्त होकर मृत्यु का ठग लेता है अर्थात् मैं मरता हूं, इस प्रकार मूढ़ के समान ज्ञानी नहीं जानता, क्योंकि इसके प्रथम ही उसका अज्ञान निवृत्त हो गया है इसी कारण ही यह ज्ञानी पुनः जन्म परम्परा को प्राप्त नहीं होता। ( सत ब्रह्म तत्त्वमसि ) ऐसा सत् रूप ब्रह्म तू ही है। इस कारण, हे प्रिय दर्शन, तू ( मृत्यु बंधं निस्तर ) मृत्यु रूप बंधन को तर जा अर्थात मरण को वा मरण के भय को तू प्राप्त मत हो ॥५६॥

लौकिक सर्व ही व्यवहार ज्ञानी और अज्ञानी दोनों का समान है। सत् की प्राप्ति भी ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को समान रूप से मरणांत में होती है। फिर क्या कारण है कि ज्ञानी तो सत् ब्रह्म को प्राप्त होकर फिर इस जन्म बंधन को प्राप्त नहीं होता और अज्ञानी मरकर सत् को प्राप्त हुआ भी फिर जन्म बंधन को ही प्राप्त होता है ? इस शंका का समाधान भी दृष्टांत देकर अब किया जाता है।

**स्तेन प्रतप्त परशोरिव दाहबन्धावाप्नोति मूढ मति रप्यनृताभिसंधः। सत्याभिसंधिरथ न व्यथते यदात्मा सद्ब्रह्म तत्त्वमसि निर्णुद बन्धशंकाम् ॥५७॥**

"मैंने चोरी नहीं की है" ऐसे असत् अनुसंधान करने वाले चोर को तपाया हुआ परशु दाह करता है और वह बंधन को प्राप्त होता है, सत् का अनुसंधान करने वाले को नहीं। वैसे ही ज्ञानी सत् आत्मानुसंधान करने से बंधन को

प्राप्त नहीं होता। वह आत्मा सत् ब्रह्म तू है, बंधन की शंका दूर कर ॥५७॥

( स्तेनइव प्रतप्त परशोः दाह बंधौ आप्नोति ) जैसे कोई अनृतवादी चोर राजघर में प्रतप्त परशु से प्रथम दाह दुःख को प्राप्त होकर फिर बंधनागार को यानी जेल को प्राप्त होता है। भाव यह है कि किसी चोर पुरुष को हाथों में हथकड़ी लगाकर राज पुरुष न्यायालय में लेगये। सभापति आदिक राज प्रधान पुरुषोंने पूछा कि इस पुरुषने क्या किया है ? तब राज पुरुषोंने उत्तर दिया कि इस पुरुष ने इस पुरुष के धन को चुराया है। तब सभापति को संशय हुआ कि इसनें चोरी की है वा नहीं की। ऐसे संशय युक्त होकर सभापतिओं ने पूछा कि क्या तुमने चोरी करी है ? उसने आगे उत्तर दिया कि नहीं। जब किसी प्रकार से भी सभापति का संशय दूर न हुआ तब सभापति ने कहा कि इसकी अब दिव्य परीक्षा की जायेगी। तब परशु तपाकर उस पुरुष के हाथों में धर दिया गया। यदि वह पुरुष चोरी का तो करने वाला है परन्तु ऊपर से कहता है कि मैंने चोरी नहीं की, तब उस पुरुषके हाथ दग्ध होजाते हैं और कारागृह में बांधा जाता है और यदि वह पुरुष चोरी का कर्ता नहीं होता तो सत्य के प्रभाव से परशु के पकड़ने पर भी वह दग्ध नहीं होता, उलटा राज प्रधान पुरुषों से वा साक्षात् राजा से भी अर्चित और पूजित हुआ मिथ्या बंध मुक्त होजाता है—तैसे ही ( मूढ मति अपि अनृताभिसंधः व्यथते ) अज्ञानी भी अनात्मा में आत्मत्वानुसंधानरूप मिथ्या भावी होने से मृत्यु रूपी तप्त परशु से पीड़ा रूप दाह को प्राप्त होकर फिर जन्मादिक बंधन को प्राप्त होता है। ( अथ सत्याभिसंधिः ) और जैसे कोई साधु पुरुष चोर भ्रम

से पकड़ा हुआ राज प्रधान पुरुषों के पूछने से कहता है कि मैंने चोरी नहीं की, इस प्रकार सत्याभिसंधान करने वाला होने से तप्त परशु के पकड़ने पर भी चोर की तरह दाह बंधनों को प्राप्त नहीं होता। तैसे ही ( यदात्मा ) जो सत् ब्रह्म रूप ज्ञानी आत्मामें ही आत्मत्वानुसंधान रूप सत्य भाषण करता है वह पीड़ा और दाह को तथा पुनः मरणादि रूप बंधन को मूढ़ वत् प्राप्त नहीं होता। ( सत् ब्रह्म तत्त्वमसि ) इसलिये हे श्वेतकेतो, वह ब्रह्म तू ही है। ( बंध शंकां निरुंद ) बंध शंका को तू दूर कर।

अब प्रकृतोपदेशका उपसंहार करते हुए आचार्य सर्व उपदेश का तात्पर्य बतलाते हैं—

**पित्रा सुतः सुवचनैरिति बोधितः स्वं सत्याद्वितीयसुखबोध घनं विजज्ञौ। एतद्विमृश्य विदिताद्वय दृक् परोपि स्वाराज्यसौख्यमधिगम्य भवेत् कृतार्थः ॥५८॥**

इस प्रकार पिता के श्रेष्ठ वचनों से दिये हुए उपदेश से नित्य चिदानंद स्वरूप आत्मा को श्वेतकेतु ने संशय रहित जाना, वैसे ही और भी कोई अधिकारी पुरुष अद्वय सर्व साक्षी को विचार कर जानेगा तो वह भी साम्राज्य सुख को प्राप्त होकर कृतकृत्य होगा ॥५८॥

( इति पित्रा सुवचनैः सुतः बोधितः ) इस प्रकार पिता उद्दालक ने सुन्दर वचनों से श्वेतकेतु को बोध किया। फिर बोध को प्राप्त हुआ श्वेतकेतु ( सत्याद्वितीयसुखबोधघनं स्वं विजज्ञौ ) नित्य

चिदानन्द एक स्वभाव निज आत्मा को संशय रहित होकर जान गया। ( एतत् विमृश्य विदिताद्वय दृक् परोपि ) इस प्रकार और भी कोई अधिकारी इस उक्त उपनिषत् के तात्पर्य को विचार करके जानकर अद्वैत और सर्व साक्षी प्रत्यग् आत्मा के चिंतन परायण हुआ ( स्वाराज्यसौख्यं अधिगम्य ) स्वप्रकाश रूप सुख को प्राप्त होकर ( भवेत्कृतार्थः ) कृतकृत्य हो जावेगा।

मांडूक्योपनिषद्‌गत 'अयमात्मा ब्रह्म' इस महा वाक्य का भी अखंडार्थ ही है, यह अब दिखलाते हैं—

इन्द्र वज्रा छन्द।

**ऐक्यं प्रकल्प्य प्रणवेऽखिलस्य पादान् विभज्य प्रविलाप्य शिष्टः। एकः स आत्मा जगदेऽय-मात्मा ब्रह्मेति विस्पष्टमथर्ववाण्या ॥५६॥**

सब जगत् की एकता की कल्पना करके उसके चारों पादों का भिन्न रूप निरूपण करके, उनका फिर लय करके शेष चेतनमात्र एक आत्मा है और यह आत्मा ब्रह्म है ऐसा अथर्वण वेद में स्पष्ट ही कहा है ॥५६॥

( अथर्ववाण्या ) अथर्ववेद की मांडूक्योपनिषत् की श्रुति ने ( अयं आत्मा ) अस्मत् प्रत्यय का विषय सत्यानंद चेतन रूप त्वं पदार्थ प्रत्यगात्मा तथा ( ब्रह्म ) सत् चित् आनंद रूप तत् पदार्थ ब्रह्म रूप है ( इति ) इस प्रकार कहकर ( विस्पष्टम् ) विशेष स्पष्ट रूप से ( स एकः आत्मा ) सो आत्मा एकही है ऐसा ( जगदे ) कहा है। सो एक आत्मा कौन है इस जिज्ञासा के होने पर कहते हैं ( प्रणवे अखिलस्यऐक्यंप्रकल्प्य ) 'ओमित्येतदक्षरमिदं

सर्वम्' इस प्रकार उपक्रम में ही सर्व जगत का प्रणव में अभेद कल्पना करके अनंतर ( पादान् विभज्य ) प्रणव के पदों का पृथक् पृथक् निरूपण करके ( प्रविलाप्य ) जगत् रूप तीन पादों को चिद् ब्रह्म रूप लक्ष्यमें अर्थात् अर्धमात्रा रूप तुरीयपाद रूप से प्रसिद्ध चेतन ब्रह्म रूप लक्ष्यमें क्रम से लय करके ( शिष्ट: ) जो लक्ष्यअमात्र चेतन रूप पाद शेष है वही एक आत्मा है। इस श्लोक में तीन पाद वाच्यार्थ रूप हैं और तुरीय पाद लक्ष्य रूप है यह विभाग जानलेना ।।।।५९।।

इस प्रकार विचार कर चारों वेदों के उपनिषदों के तात्पर्य निर्णय से ब्रह्म और आत्मा की एकता का ही निश्चय होता है अब उस ब्रह्म और आत्मा की एकता का उपयोग दिखलाते हैं—

स्रग्धरा छन्द ।

**नित्यं शुद्धं विबुद्धं विकृति विरहितं नित्य मुक्त स्वभावं सत्यं सूक्ष्मंनिरस्तद्वयमनवयवं पूर्णमानन्दरूपम् । प्रत्यग् ब्रह्माहमस्मि स्वरसदृशि रवौ ध्वांतवद् विश्वमेतन्नासीदस्त्युद्ध विष्यत्यपिमयि सुखसज्ज्योतिरात्मन्यसंगे ।।६०।।**

नित्य, शुद्ध, चेतन स्वरूप, विकृति रहित, नित्यमुक्त स्वभाव, सत्य, सूक्ष्म, द्वैत रहित, निरवयव, व्यापक, आनंद स्वरूप, साक्षी ब्रह्म मैं हूं। सब अवस्थाओं में असंग, आनंद, सत् चेतनस्वरूप स्वप्रकाश सूर्य मुझमें अंधकार के समान यह सब जगत् न था, न है, न होगा ।।६०।।

( नित्यं ) एकरस ( शुद्धं ) निर्दोष ( विबुद्धम ) चेतन रूप
विकृतिविरहितम् ) छः भाव विकारों से रहित ( नित्यमुक्त-
भावम् ) सदा मुक्तस्वभाव ( सत्यम् ) त्रिकालाबाध्य ( सूक्ष्मम् )
ूलपने से रहित ( निरस्तद्वयम् ) द्वैत से रहित ( अनवयवम् )
रवयव ( पूर्णम् ) व्यापक ( आनंद रूपम् ) सुख स्वरूप
त्यक् ) सर्व अन्तःकरणों का साक्षी स्वरूप ( ब्रह्म ) ब्रह्म
अहं अस्मि ) मैं हूं अर्थात् नित्यादि लक्षण जो ब्रह्म है सो ब्रह्म
ही हूं। इसलिये (असंगे सुखसत् ज्योतिः आत्मनि स्वरसदृशि
यि ) सर्व अवस्थाओं के संबंध से रहित, आनंद, सत् और
तन स्वरूप, स्वाभाविक प्रकाश रूप मेरे में ( एतत् विश्वं न
ासीत् अस्ति भविष्य ति अपि रवौ ध्वान्तवत् ) सूर्य में
ंधकार के सदृश यह सर्व जगत् न पहले ही था न अब है न
ागे होवेगा। भाव यह है ब्रह्म आत्मा के एकत्व ज्ञानका फल
ल सहित के जगत् रूप अनर्थ की निवृत्ति और नित्य परमा-
न्द स्वरूप रूप से स्थिति है ॥६०॥

ब्रह्म से भिन्न ऐक्य ज्ञान विद्यमान है। इसलिये अद्वैत सिद्धि
हीं हुई, इस प्रकार की शंका की अब दृष्टांत से निवृत्ति
रते हैं—

**ऽर्थं वाक्याद्विमृष्टादरणि विमथनाद् वह्निकीलेव**
**व्यः संभूताखंड वृत्तिस्तृणमिव निखिल द्वैत**
**ालं समोहम्। दग्ध्वा निर्वाणसंज्ञे निरतिशय-**
**ुखे नित्य सिद्धात्मतत्त्वे सद्यो याति प्रणाशं**

कतकरज इवोदस्य पंकं जलस्य ॥६१॥

जैसे दो काष्ठों के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है और तृणों को जलाकर स्वयं शांत हो जाती है, जैसे कतक बीज जल को निर्मल करके नीचे बैठ जाता है, तैसे ही उपनिषत वाक्यों के विचार से शीघ्र ही ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न होती है और अज्ञान सहित संपूर्ण द्वैत समूह को जलाकर आप भी नित्य संज्ञा वाले परम सुखरूप नित्यसिद्ध आत्मतत्त्व में नाश को प्राप्त होती है ॥६१॥

( अरणिविमथनात वह्निकील इव) जैसे दो काष्ठोंके संघर्षण से अग्नि ज्वाला उत्पन्न होती है, ( इत्थं वाक्यात विमृष्टात् सद्यः संभूताखंडवृत्तिः ) इसी प्रकार उक्त रीति से उपनिषदों के वाक्यों के विचार से शीघ्र ही ब्रह्माकारवृत्ति उत्पन्न होती है। ( तृणं इव ) जैसे काष्ठ मथन से उत्पन्न हुई वह्निज्वाला तृणों को दाह करके आप भी शांत हो जाती है और ( कतकरज इव जलस्य पंकं उदस्य ) जैसे कतक बीज का रज जलकी निर्मलता करने अर्थ जल में मिला हुआ जल के पंक को एकस्थान में इकट्ठा करके आप भी उसमें ही लय को प्राप्त हो जाता है तैसे ही वाक्य विचार से उत्पन्न हुई ब्रह्माकारवृत्ति भी ( अखिल द्वैत जालं संमोहं दग्ध्वा निर्वाणसंज्ञे निरतिशय सुखे नित्य सिद्धात्मतत्त्वे सद्यः प्रणाशं याति ) अज्ञान के सहित संपूर्ण द्वैत समूह को दग्ध करके आप भी नित्य कैवल्यसंज्ञक परम सुख रूप सनातन आत्म स्वरूप में नाश को प्राप्त हो जाती है ॥६१॥

अब ब्रह्म आत्मा की एकता के साक्षातकार अर्थ कही जो अखंडाकार वृत्ति है उस वृत्ति का महात्म्य दिखलाया जाता है—

**एषाऽनादि त्रितापज्वर विषम भव व्याधि सम्यक् चिकित्सा ह्येषा स्वाराज्य संपन्निरवधि परमानन्द संदोहदोग्ध्री । भस्मीभूतं तथास्यां प्रभवति न पुनः कर्म बीजं प्ररोढुं संदेहग्रन्थि भेदावपि च निगदितावेतदासादनेन ॥६२॥**

यह ब्रह्माकार वृत्ति अनादि तीनों तापों की विषम ज्वर रूप जगत व्याधि की यथार्थ औषधि है, यह स्वाराज्य का खजाना है, अवधि रहित परमानंद समुद्र की प्राप्ति कराने वाला है। उसने भस्म किये हुए कर्मबीज जन्म रूप संस्कार उत्पन्न करने में असमर्थ हैं। इस प्रकार अखंडाकार वृत्ति की प्राप्ति से चिज्जड़ग्रान्थि की अत्यंत निवृत्ति श्रुति में कही है ॥६२॥

जैसे कफ पित्त वात के प्रकोप जन्य ज्वर की चिकित्सा कठिनाई से होती है अर्थात् इस ज्वरका नाश करना बड़ा कठिन होता है तैसे ही ( अनादि त्रिताप ज्वर विषम भव व्याधि सम्यक चिकित्सा एषा ) आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रूप त्रिताप ज्वरों से विषम अर्थात् दुश्चिकित्स्य अनादि संसार रोग की यह अखंडाकार वृत्ति ही सम्यक् चिकित्सा है अर्थात्

इस अनादि संसार रोग को यह ब्रह्माकार रूप अखंडाकार वृत्ति ही नाश करती है तथा ( एषा हि स्वाराज्य संपत ) यह अखंडाकार वृत्ति ही स्वाराज्य संपदा है। स्वराट् नाम इन्द्र का है, तद् भावरूप संपत स्वाराज्य संपत् है। यह भी ब्रह्माकार वृत्ति है ( निरवधि परमानन्द संदोह दोग्धी ) अपरिच्छिन्न परमानंद समुद्र की प्राप्ति कराने वाली भी यह अखंडाकार वृत्ति ही है। ( अस्यां भस्मीभूतं कर्मबीजं पुनः प्ररोढुं न प्रभवति ) इस ज्ञानाग्नि रूप ज्वाला के होने पर भस्मीभूत अविद्या काम कर्म रूप बीज फिर जन्म रूप अंकुरों के उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता। ( एतत् आसादनेन संदेह ग्रन्थिभेदौ अपि निगदितौ च ) तथा इस अखंडाकार वृत्ति की प्राप्ति से प्रमाणगत संशयों की, प्रमेयगत संशयोंकी तथा अनात्म तादात्म्याध्यास रूप चिज्जड़ ग्रंथि की अत्यन्त निवृत्ति भी श्रुतिओं ने कथन की है ॥६२॥

इति श्रीमत् गंगाधरेन्द्र सरस्वती प्रणीत स्वाराज्य सिद्धौ
अपवादाख्य द्वितीय प्रकरणे सरलान्वय पद्य
काशिकाऽऽख्या भाषा टीका समाप्ता।

# स्वाराज्य सिद्धि ।

## तृतीय प्रकरण ।

शंका—वेदांत वाक्यों के विचारजन्य अखंडाकारवृत्ति से अध्यारोप और अपवाद नामक पूर्व उक्त दोनों प्रकरणों में प्रतिपादित अद्वितीय प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म का साक्षात्कार होता है यह जो पूर्व कहा वह कहना नहीं बनता, क्योंकि वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान होता है, इस बात की विद्वानों में प्रसिद्धि नहीं है ।

इस प्रकार की शंका के होने पर आचार्य वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान का होना सिद्ध करते हैं—

मंजुभाषिणी छन्द ।

**अपरोक्षवस्तु विषयेति शब्दजाप्यपरोक्षतां न विजहात्यखंडधीः । निपुणं निशम्य दशमस्त्व-मित्यदो वचनं नहि स्वमुपलब्धुमिच्छति ॥१॥**

शब्द से उत्पन्न हुआ अखंडाकार वृत्तिरूप ज्ञान अप-रोक्ष आत्मवस्तु होने से अपनी अपरोक्षता को नहीं छोड़ता, जैसे दशमा तू है ऐसे पथिक के वचन सुनकर फिर वह अपने को जानने की इच्छा नहीं करता ॥१॥

( शब्दजापि अखंडधीः ) तत्त्वमसि महा वाक्य रूप शब्द से उत्पन्न हुआ अखंडाकारवृत्ति रूप ज्ञान ( इति अपरोक्ष वस्तु विषया ) स्वयं प्रकाश और नित्यापरोक्ष रूप आत्म वस्तु विषयक होने से ( अपरोक्षतां न विजहाति ) अपनी अपरोक्षता को नहीं छोड़ता। भाव यह है कि अपरोक्ष वस्तु विषय का ज्ञान भी अपरोक्ष ही होता है परोक्ष नहीं, ( हि ) क्योंकि ( दशमस्त्वं इति अदो वचनं निपुणं निशम्य स्वं उपलब्धुं नहि इच्छति ) दसवां तू है, इस प्रकार दयालु पथिक ब्राह्मण के वचन को जैसे है तैसे ही सम्यक् सुन कर फिर यह अपने जानने की इच्छा नहीं करता, भाव यह है कि यदि शब्द से परोक्ष ही ज्ञान होता तो दसवां पुरुष फिर अपने को अपरोक्ष जानने के अर्थ उपाय में प्रवृत्त होता, परंतु होता नहीं। इसलिये शब्द से अपरोक्ष ज्ञान ही होता है यह स्पष्ट है, परंतु जहां विषय ही परोक्ष है वहां शब्द से परोक्ष ज्ञान ही होता है।

दशम की कथा इस प्रकार है—दस पुरुष किसी कार्य के लिये जा रहे थे। रास्ते में एक नदी पड़ी, तब वे दसों पुरुष तैर कर नदी के पार चले गये। अब उन्होंने विचारा कि हम दस ही हैं कोई डूबा तो नहीं! तब उनमें से एक पुरुषने अपने को न गिन कर और नौ की गिनती की और कहा कि भाईओ दसवां पुरुष नदी में बह गया है! उनमें से औरों ने भी गिना परन्तु सभी अपने को गिनना भूल जाते थे। अंतमें सभी को निश्चय हुआ कि उनमें से एक नदी में ही रह गया है। इसलिये वे सब रोने लगे। दैववशात् वहां एकपथिक आ पहुंचा। उस पथिकने पूछा कि 'तुम लोग क्यों रुदन करते हो? तब उन्होंने कहा, हम घर से दस चले थे। नदी पार करते हुए हममें से एक नदी में बह गया है।

उस ब्राह्मण ने देखा कि ये तो दस के दस ही हैं। तब पथिक ने कहा, रुदन मत करो दसवां विद्यमान है। तब उनके धैर्य हुआ। उन्होंने पूछा कि 'भगवन् दसवां कहां देखा है' पथिक ने एक से कहा, कि तुम इनकी गिनती करो, तब उसने नौ तो गिने परन्तु अपने को नहीं गिना तब उस पथिक ने उससे कहा दसवां तू है तब उसने इस शब्द से अपने को प्रत्यक्ष जान लिया। यही बात आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान में होती है क्योंकि वह तू है ऐसे सद्गुरु के उपदेश का विषय भी अपरोक्ष ही है ॥१॥

अब पूर्व उक्त दृष्टांत का ही उपपादन किया जाता है—

**नच शब्द जन्य मतिमात्रतः स्वतोप्यपरोक्ष-वस्तुभजते परोक्षताम् । न खलु प्रदीप तरणि-प्रकाशयोः प्रतिभासतोऽस्ति विषये पृथग् विधा ॥२॥**

स्वभाव से ही अपरोक्ष वस्तु शब्दजन्य ज्ञान के विषय होने से परोक्ष नहीं होती, क्योंकि दीपक और सूर्य के प्रकाश के विषय घटादिक में प्रकाश के भेद से किसी प्रकार भेद नहीं है ॥२॥

( स्वतोपि अपरोक्षवस्तु शब्दजन्य मति मात्रतः परोक्षतां न भजते ) स्वभाव से ही अपरोक्ष प्रत्गात्मा वस्तु शब्द जन्य ज्ञान के विषयत्व रूप अपराध से परोक्षता को नहीं सेवन करती। अर्थात् स्वभाव से ही अपरोक्ष वस्तु परोक्ष नहीं

होती। ( प्रदीप तरणि प्रकाशयोः विषये ) दीपक और सूर्य के प्रकाश के विषय घटादिक पदार्थ में ( प्रतिभासतः ) प्रकाश के भेद से ( पृथग् विधा खलु नास्ति ) किसी प्रकार का भेद नहीं है। भाव यह है कि दीपक के प्रकाश में तो घट घट रूप से प्रतीत हो और सूर्य के प्रकाश में वही घट पट रूप से प्रतीत हो ऐसा भेद नहीं देखने में आता और दीप के प्रकाश में रक्त और सूर्य प्रकाश में वही रक्त नील प्रतीत नहीं होता। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जैसे स्वभाव वाली वस्तु होती है, वैसे ही प्रमाण उस वस्तु को प्रकाश करते हैं ॥२॥

अथवा कहीं पर विचित्र स्वभाव वाले विषय के भेद से अथवा सामग्री के भेद से वस्तु भान का भेद रहे, परन्तु अपरोक्ष स्वभाव आत्मा में यदि प्रमाणमूर्धन्य तत्त्वमसि महा वाक्य भी परोक्ष ज्ञान को ही उत्पन्न करेगा तो प्रामाण्यता से च्युत हो जावेगा। इस अर्थ को दिखलाते हैं—

**अपरोक्षवस्तु विषयापरोक्षधीर्न च मान भाव मुप गन्तुमर्हति। स्वत एव शश्वदवभातमात्मनः कुशलोऽपि न स्वमपि गूहितुं क्षमः ॥३॥**

अपरोक्ष वस्तु का विषय करने वाली परोक्ष बुद्धि, प्रमाण भाव को प्राप्त होने के योग्य नहीं है। चतुर पुरुष भी स्वाभाविक सदा अपरोक्ष रूप से भासने वाले अपने आत्मा को परोक्ष करने में समर्थ नहीं है ॥३॥

( अपरोक्ष वस्तु विषया परोक्षधीधीः ) अपरोक्ष वस्तु को

विषय करने वाली परोक्ष बुद्धि ( मान भावं उपगंतुं नार्हति ) प्रमाण भाव के प्राप्त होने के योग्य नहीं है। भाव यह है कि अपरोक्ष स्वभाव वस्तु में परोक्ष ज्ञान उत्पन्न करने वाला प्रमाण अयथार्थ ही हो जावेगा अर्थात् प्रमाण नहीं रहेगा, क्योंकि तत् अभाव वाले में तत् प्रकार ज्ञान ही अयथार्थ ज्ञान कहा जाता है। ( कुशलः अपि स्वत एव शश्वत् अवभातं आत्मनः स्वं न गूहितुं क्षमः ) प्रवीण पुरुष भी स्वभाविक सदा अपरोक्ष रूप से भासमान अपने आत्मा को परोक्ष रूप करने में समर्थ नहीं है। 'आत्मनः' यह पंचमी द्वितीया के अर्थ में है ॥३॥

शंका—इन्द्रिय जनित ज्ञान ही अपरोक्ष होता है यह नियम है इसलिये जिसका विषय इन्द्रियगोचर नहीं है ऐसे वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता इस शंका का समाधान आगे के श्लोक में देते हैं—

**सुख दुःख राग यतनेष्वसंमतेस्तिमिर प्रसुप्ति-**
**विषयेष्वदर्शनात्। अपि हेतुरस्य विषय योग्यते-**
**त्यपरोक्षता न करणैर्नियम्यते ॥४॥**

सुख, दुःख, राग, यत्न, अंधेरा और स्वप्न के विषयों में नहीं होने से और अपरोक्ष ज्ञान के विषय में योग्यता भी हेतु होने से इन्द्रियों से ही अपरोक्ष ज्ञान होता है यह नियम नहीं है ॥४॥

( करणैः अपरोक्षता न नियम्यते ) इन्द्रियों से ही अपरोक्ष ज्ञान हो यह नियम नहीं है ( सुख दुःखराग यत्नेषु असंमतेः ) सुख,

दुःख, इच्छा, प्रयत्न आदि का इन्द्रियवेद्यत्व वेदांत रहस्यवेत्ताओं का संमत नहीं है। सुख दुःख इच्छा प्रयत्न आदिक मन का धर्म होने से वेदांती इनको साक्षीवेद्य अर्थात् साक्षीभास्य मानते हैं। भाव यह है कि यदि इन्द्रिय जन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष मानें तो सुख दुःख आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होना चाहिये। इससे तुम्हारे उक्त नियम का यहां व्यभिचार सिद्ध होता है। ( तिमरप्रसुप्ति-विषयेषु अदर्शनात् ) अंधकार में तथा स्वप्न के पदार्थों में इन्द्रियं वेद्यता नहीं है। भाव यह है कि अंधकार को यदि भाव पदार्थ मानोगे तो भी नेत्रों से अंधकार का ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि अंधकार के ज्ञान करने में नेत्रों को सहकारी प्रकाश का अभाव है और आलोक सहकृतचक्षु से ही भाव पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यदि अंधकार को अभाव रूप मानोगे अर्थात् प्रकाशा-भाव का नाम ही अंधकार है, इससे अंधकार अभाव रूप है ऐसा मनोगे तो भी नेत्रों द्वारा अंधकार का ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि अभाव के साथ इन्द्रिय का संनिकर्ष यानी संबंध ही नहीं हो सकता है। इस प्रकार से अंधकार के प्रत्यक्ष में भी तुम्हारे उक्त नियम का व्यभिचार है। स्वप्न में सब इन्द्रियों का लय हो जाता है इसलिये स्वप्न के पदार्थों के प्रत्यक्ष में भी तुम्हारे उक्त नियम का व्यभिचार है तथा ( अस्य विषयस्य योग्यता अपि हेतुः ) इस अपरोक्ष ज्ञान के विषय की योग्यता भी हेतु है अर्थात् योग्य विषय का ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसलिये गुरुत्व आदि सत् होने पर उस रूप के सदृश नेत्रों से प्रत्यक्ष नहीं होता है ॥४॥

यद्यपि जैसे प्रत्यगात्मा अपरोक्ष है तैसे ब्रह्म अपरोक्ष नहीं है, क्योंकि मैं ब्रह्म को नहीं जानता हूँ इस प्रकार सर्व पुरुषों को ब्रह्म विषयक ही अज्ञान अनुभव सिद्ध है, तथापि महा वाक्य से

उत्पन्न हुई अखंडाकार रूप वृत्ति से ब्रह्म का अज्ञान भी नष्ट होजाता है, यह अर्थ दिखलाते हैं—

**अपि चावृतार्थ विषयापरोक्षधीर्वचसा च भग्न मनुभूयते तमः । उपदेशमात्रमुपवर्ण्य तत् पुनः श्रुतिराह दर्शयति पारमित्यपि ।।५।।**

आवृत अर्थ के विषय से परोक्ष ज्ञान होता है परन्तु उपदेश से अज्ञान की निवृत्ति का अनुभव हुआ है, फिर उस श्रुति में पार का दिखलाने का कथन है ।।५।।

( आवृतार्थ विषया परोक्षधीः अपि च ) परोक्ष ज्ञान अज्ञाना वृत्त अर्थ विषयक भले रहे, (वचसा च तमः भग्नं अनुभूयते) तथापि विद्वानों ने महा वाक्य द्वारा ब्रह्म विषयक अज्ञान की निवृत्ति का अनुभव किया है। ( उपदेश मात्रं उपवर्ण्य ) क्योंकि छांदोग्योपनिषत् की श्रुति भी 'योवै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुख मस्ति' अर्थात् जो महान् निरतिशय है सो सुख है भूमा को छोड़ कर सब अल्प है उसमें सुख नहीं है, इस प्रकार उपदेश मात्र कह करके ( पुनः तत् श्रुतिः पारं दर्शयति इत्यपि आह ) अनन्तर वह छांदोग्योपनिषत्की श्रुति ही 'तस्मै मृदित कषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः' अर्थात् ज्ञान वैराग्य आदिक द्वारा रागद्वेष आदिक मल से रहित उस नारद के प्रति भगवान् सनत्कुमार ने अज्ञान रूप तम से पार को अर्थात् परमार्थ तत्त्व को दिखलाया, इस प्रकार कहती है। भाव यह है कि महा वाक्य के उपदेश से ब्रह्म के अज्ञान की निवृत्ति होजाती है इसके लिये भी उक्त श्रुति प्रमाण है ।।५।।

शब्द से अपरोक्ष ही ज्ञान होता है इसमें और श्रुति भी प्रमाण हैं यह दिखलाते हैं—

**विदधाति यच्चपरमात्म दृष्टये श्रवणं विमृष्ट निगमान्त गोचरम् । श्रुति मात्र तीर्ण तमसो यदब्रुवन् जनकोसि तारयसि पारमित्यपि ॥६॥**

और परमात्मा के साक्षात्कार के लिये श्रुति वेदान्त श्रवण का विधान करती है, श्रवण मात्र से अज्ञान नष्ट होने का कथन करती है, जैसे कि 'हे भगवन, आप पिता हैं हमको संसार समुद्र से आपने पार किया है' ॥६॥

( च ) और 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' यह बृहदारण्यकोपनिषत की श्रुति भी ( परमात्मदृष्टये ) परमात्मा के साक्षात्कार के लिये ( विमृष्ट निगमांतगोचरं श्रवणं विदधाति ) विचारित वेदान्त के श्रवण का विधान करती है। ( यत् ) ब्रह्म का शब्द से अपरोक्ष ज्ञान ही होता है यह बात ( श्रुति मात्र तीर्णतमसः ) श्रवण मात्र से अर्थात् निगमांत के उपदेश मात्र से नष्ट अज्ञान हुए सुकेश सत्य काम आदिक शिष्यों ने ( यत् अब्रुवन् ) प्रश्नोपनिषत् के अन्त में जो यह कहा है कि 'जनकोऽसि तारयसि पारं इति अपि' हे भगवन् आप हमारे पिता हैं आपने हम लोगों को अविद्या समुद्र का पाररूप जो अपुनरावृत्ति लक्षण स्वस्थ ब्रह्म रूप मोक्ष है उसको प्राप्त कराया है अर्थात् जब पिप्पलाद महाराज ने यह कहा कि यह ब्रह्म तत्त्व का उपदेश मैंने तुम लोगों से किया है वह इतना ही है, इससे आगे अब और अर्थ ज्ञातव्य

नहीं है, तब आगे सुकेशादिक सत् शिष्य 'तमर्च यन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकं अविद्यायाः पारं पारं तारयसि' उस पिप्पलाद गुरु का शिर से प्रणिपात पूर्वक तथा चरण कमलों में पुष्पांजलिओं के प्रक्षेप पूर्वक पूजन करते हुए कहते हैं कि मैं ही ब्रह्म हूं इस प्रकार हमारे ब्रह्म रूप शरीरके ब्रह्म विद्याके उपदेश प्रयत्न से उत्पन्न करने वाले होने से आप ही हम लोगों के पिता हैं जो आप हम शिष्यों के गुरु हैं। आप ही ने केवल कृपा करके विपरीत ज्ञान, संशय, जन्म मरण, रोग दुःखादिक ग्रहान्वित मूलाज्ञान रूप महोदधि से परपार रूप अपुनरावृत्ति लक्षण स्वस्थ ब्रह्म रूप मोक्षको विद्या रूप जहाज से प्राप्त कराया है। इससे भी यह सिद्ध हुआ कि शब्द से ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान होता है ॥६॥

शंका—तुम्हारे वेदान्तमतमें चित् का अभेद अर्थात् प्रमाताचेतन का अभेद ही विषय की अपरोक्षता में कारण है। चेतनों का अभेद वृत्ति द्वारा होता है और वृत्ति इन्द्रिय द्वारा होती है। इस प्रक्रिया से अपरोक्षता में भी इन्द्रियों की अपेक्षा अवश्य है।

अब इस शंका का समाधान करते हैं—

स्रग्धरा छन्द।

**चैतन्यस्यापरोक्ष्यं स्वरसनिजदृशो मुख्यमन्यानपेक्षं गौणं तद्‌ गोचरेष्वावरण विरहिते तत्र तादात्म्यवत्सु। बाह्ये चैतन्य योगं घटयितु मुचिता वृत्तिरक्षप्रसूता वाक्योत्था मोहमात्रं विघटयति चितः स्फूर्तिरन्यानपेक्षा ॥७॥**

अन्य की अपेक्षा न होने से स्वभाव से ही प्रकाश चैतन्य की अपरोक्षता मुख्य है। परंतु आवरण रहित अन्य वस्तु के ज्ञान में वस्तु की अपरोक्षता गौण है, क्योंकि वहां वस्तु के तादात्म्य की अपेक्षा है। बाहर के घटादिक विषय में इन्द्रिय जन्य वृत्ति से चैतन्य का योग हो यह योग्य ही है परंतु महावाक्य से उत्पन्न हुई वृत्ति चेतन के आवरण करने वाले अज्ञान मात्र का नाश करती है और स्वरूप का स्फुरण तो स्वतः सिद्ध ही है ॥७॥

( स्वरस निजदृशः चैतन्यस्य अपरोक्ष्यं मुख्यम् ) स्वभाव से ही स्वप्रकाश चैतन्य की अपरोक्षता मुख्य है ( अन्यानपेक्षम् ) चेतन की अपरोक्षता अन्य किसी की अपेक्षा न रखते हुए है। भाव यह है कि सर्वान्तर चेतन रूप में स्वअभेद की सिद्धि स्वतः सिद्ध है। वृत्ति निर्गमन के लिये बहिर्मुख इन्द्रियों की वहां अपेक्षा नहीं है। ( तत् गोचरेषु आवरणरहिते तत्र तादात्म्यवत्सु गौणम् ) साक्षी चेतन आत्मा के विषय जो ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय हैं तथा आवरण रहित साक्षी आत्मा में तादात्म्य अध्यास द्वारा जो कल्पित हैं उन ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय आदिकों की अपरोक्षता गौण है इसलिये ( बाह्ये चैतन्ययोगं घटयितुं अक्षप्रसूता वृत्तिः उचिता ) बहिर्भूत घट आदि विषयों में चैतन्य के संबंध घटाने के लिये इन्द्रिय जन्य वृत्ति की अपेक्षा योग्य ही है। अर्थात् बाह्य घट आदिक विषयों के प्रत्यक्ष में अंतःकरण की वृत्ति इन्द्रिय द्वारा घट आदि विषय देश में जाकर घट आदि में स्थित चेतन के आवरण को भंग करती है। वहां 'विषय में रहे

हुए चेतन का अंतःकरण में स्थित चेतन से अभेद है और वह अभिन्न चेतन स्वयं प्रकाश है। अतः वहां वह फल चेतन की अपेक्षा नहीं रखता और घट आदिक विषय तो जड़ होने से स्वप्रकाश के लिये वृत्ति प्रतिफलित चैतन्य की अपेक्षा रखते हैं। इसलिये बहिर विषय के प्रत्यक्ष में इन्द्रियों की परंपरा अपेक्षित है परंतु ( वाक्योत्था मोह मात्रं विघटयति चितः स्फूर्तिः अन्यानपेक्षा ) महा वाक्य से उत्पन्न हुई अखंडाकार वृत्ति चेतन के आवरक अज्ञानमात्र का नाश करती है और स्फुरण तो स्वरूप होने से स्वतः सिद्ध ही है, वह जड़ घट आदि विषय के सदृश वृत्ति प्रतिफलित चेतन द्वारा नहीं है इसलिये इन्द्रियजन्य वृत्ति की वहां अपेक्षा नहीं है ॥७॥

केवल बाह्य विषयों के ग्रहण में इन्द्रिय और बुद्धि वृत्ति दोनों की आवश्यकता है यह दिखाते हैं—

मंजुभाषिणी छंद।

**विषयाप्रबोधदलनाय संविदो विषयोपराग जननाय वा धियम्। विषयकृतित्वमुपनेतुमिष्यते विषयाक्षयोग सरणिस्तनोर्बहिः ॥८॥**

घटादिक बाहर के पदार्थ में अवच्छिन्न चेतन्य के आवरण के नाश के अर्थ अथवा चेतन्य का घटादिक के साथ संबंध जनन के अर्थ बुद्धि को विषय की आकृति को धारण करने के हेतु इंद्रिय मार्ग का अंगीकार किया है ॥८॥

( विषय अबोध दलनाय वा संविदो विषय उपराग जन-नाय ) घट आदिक बाहर के विषयों में स्थित चेतन को आवरण करने वाले अज्ञान के नाश के अर्थ अथवा चेतन का घट आदिकों के साथ संबंध करने के लिये ( धियं विषयाकृतित्वं उपनेतुं तनोः बहिः विषय अक्षयोग सरणिः दृष्यते ) अन्तःकरण के घट आदिक बहिर्विषय की आकारता के प्राप्त करने को शरीर से बहिर विषय इन्द्रियसन्निकर्ष रूप मार्ग अवश्य सिद्धांत में अंगीकार किया है परन्तु सर्वांतर चैतन्य के प्रत्यक्ष में नहीं ॥८॥

आत्मा स्वतः स्फुरण रूप है, इसलिये वह बहिर घटादिक जड़ विषयों के समान इन्द्रिय जन्य वृत्ति की अपेक्षा स्वसिद्धि अर्थ नहीं करता, इस तात्पर्य से सिंहावलोकन न्यायसे अब फिर आत्मा का निश्चय कराते हैं—

स्रग्धरा छन्द ।

**यन्नेक्ष्यं चक्षुराद्यैः प्रतिविषयममी येन संधुक्षिताथीः यद् वागादेः पदं न व्यवहरति मुहुर्येन वागादि वर्गः । येन प्राणः प्रणीतस्तनुकरणमनोबुद्धयो येन चेद्धास्तच्छुद्धं स्वेन सिद्धं निरुभयमभयं बोधसत् सौख्यमात्मा ॥९॥**

जो चक्षु आदि से जानने को अशक्य है और चक्षु आदि जिस चैतन्य से अपने अपने विषय को प्रकाश करने में समर्थ होते हैं, जो वाक् आदि ज्ञानेन्द्रियों का विषय

नहीं है और जिससे वाक् आदि प्रवृत्त होते हैं, जिससे प्राण प्रवृत्त होते हैं और जिससे शरीर, इंद्रियां, मन तथा बुद्धि प्रकाशित होते हैं, वह सत् चैतन्य ही शुद्ध, स्वयं सिद्ध, अद्वय, अभय और सच्चिदानंद स्वरूप है ॥९॥

( यत् न ईद्यम् ) जो सर्व उपनिषत् प्रसिद्ध सत् आत्मा रूप ब्रह्म चक्षु आदिक इन्द्रियों द्वारा जानना अशक्य है ( अमी येन प्रतिविषयं संधुक्षितार्थः ) और यह चक्षु आदिक इन्द्रियां जिस चेतन से प्रति विषय सम्यक् प्रकाश पाकर अपने अपने विषय के प्रकाश करने में समर्थ होते हैं, ( यत् वाक्गादेः पदं न व्यवहरति ) जो चेतन वाक् आदिक कर्म इंद्रियों का विषय नहीं है, ( येन वागादि वर्गः मुहुः ), जिस चेतन से पुनः वाक् आदिक कर्म इन्द्रिय प्रवृत्त होते हैं, ( येन प्राणःप्रणीतः ) जिस चेतन द्वारा प्राण अपने व्यापारमें प्रवृत्त होते हैं तथा ( येन च तनु करण मनो बुद्धयः इद्धाः ) जिस चैतन्यसे शरीर इंद्रिय मन बुद्धि प्रकाशित हुए अनुभव के विषय होते हैं ( तत् शुद्धं स्वेन सिद्धं निरुभयं अभयं बोध सत् सौख्यं आत्मा ) वही सत् चेतन, शुद्ध, स्वप्रकाश, अद्वय, अभय और सच्चिदानंद स्वरूप आत्मा है ॥९॥

जिसका चित्त असंभावना आदिक दोषों से ग्रसा हुआ है तथा रागद्वेष आदिकों से चंचल है, उसको आत्मलाभ के लिये आत्मा का ध्यान कर्तव्य है, अब इस अर्थ को दिखलाते हैं—

**इत्थं संबोधितस्याप्यनवहितमतेर्यस्य बोधो न वृत्तः स स्याद्भूयोविचार व्यसन वश मनाः**

**सत्सहायः स्वतश्च । अक्षान् विक्षेप शान्त्यै चपलमपिमनोलालनैर्वा हठाद्वा रुद्ध्वा ध्याये-दनन्तं परमसुखचिदात्मानमेकं विविक्ते ॥१०॥**

इस प्रकार बोध कराने पर भी यदि अनिश्चितबुद्धि वाले को ज्ञान नहीं होता तब वह ब्रह्मनिष्ठ के संग में अथवा स्वयं वेदान्त वाक्यों का बारंबार विचार करे। चंचलता की निवृत्ति होने पर एकांत देश में टिककर इंद्रियां और मन को प्रेम से अथवा हठ से रोककर परम सुखरूप, एक चित्स्वरूप और अनंत आत्मा का ध्यान करे ॥१०॥

( इत्थम् ) इस पूर्व उक्त प्रकार से ( संबोधितस्यापि यस्य अनवहित मतेः बोधो न वृत्तः ) उपदेश करने पर भी जिस पुरुष को संशय आदिकों से आत्म तत्त्व में अनिश्चित बुद्धि वाला होने से आत्म ज्ञान नहीं सिद्ध हुआ है, ( सः ) वह पुरुष ( भूयो विचार व्यसन वश मनाः स्यात् सत् सहायः स्वतश्च ) श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ विद्वानों की सहायता पाकर अथवा कृतश्रवण होने से स्वतः ही अर्थात् अपने आप ही पुनः पुनः मन को वेदांत शास्त्र के अनुकूल विचार में लगाता रहे अर्थात् विचार का अभ्यास करे। राग द्वेष आदि युक्त पुरुष ( विक्षेप-शांत्यै ) चंचलता की निवृत्ति के लिये ( अक्षान् ) इन्द्रियों को ( चपलं मन अपि ) और चंचल स्वभाव मन को ( लालनैः ) शास्त्रानुकूल किंचित् अभिलषित अर्थ संपादन रूप लालन से

अर्थात् लाड़ से ( वा हठात् ) अथवा हठ यानी बलसे ( रुद्ध्वा ) सर्वदा काल स्व स्व विषय में गमन करने से रोक करके अर्थात् इन्द्रियों को तथा मन को स्व स्व विरुद्ध विषयों के भोग से तथा संकल्प से निवृत्त करके ( विविक्ते अनंतं परम सुख चिदात्मानं एकं ध्यायेत् ) एकांत विजनदेश में देशकाल वस्तु परिच्छेद से रहित अनंत, सजातीय विजातीय स्वगत भेद से रहित रूप, एक परमानन्द स्वरूप तथा चेतन आत्मा का ध्यान करे अर्थात् विजातीय प्रत्ययों के त्याग पूर्वक सजातीय प्रत्ययों का प्रवाह करे ।।१०।।

योग शास्त्रानुसार ध्यान का ही अब निरूपण करते हैं——

**मुक्त्वा संगं सहिष्णुः शुचिहितमित भुक् योग शास्त्रार्थ दर्शी पुण्ये निर्दोषदेशे यम नियम दृढ़ः स्वासनस्थः प्रसन्नः । प्राणायाम क्रमेणा-हतचपलमनः स्थूलसूक्ष्मे निरुध्य ध्यायन्नै-कात्म्यसौख्यस्थिरगलितमना मोहबंधं छि-नत्ति ।।११।।**

संगरहित, सहनशील, पवित्र, हितकर व परिमित भोजन करनेवाला, योगशास्त्रके अनुसार यम नियम युक्त, प्रसन्न और प्राणायाम द्वारा मनकी चंचलता को क्रम से हरण करते हुए शुद्ध और पवित्र देश में आसन लगाकर स्थूल सूक्ष्म में मन को रोककर आत्मसुख में मन को गलित करने वाला

## योगी मोह बंधन को छोड़ता है ॥११॥

( संगं मुक्त्वा ) ध्यान के विरोधी संग को त्याग करके ( सहिष्णुः ) सहन शील ( शुचि हितमितभुक् ) पवित्र रह कर शरीर को उपकारक तथा शास्त्र उक्त परिमाण से अन्न को ग्रहण करने वाला ( योगशास्त्रार्थदर्शी ) तथा योगशास्त्रार्थ को विचारने वाला, ( यम नियम दृढ़ः ) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, यम तथा शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान, इन नियमों का दृढ़ता से पालन करने वाला (स्वासनस्थः ) तथा स्वानुकूल किसी पद्म, सिद्ध आदि आसन में स्थित हो कर ( प्रसन्नः ) प्रसन्नता पूर्वक ( प्राणायामक्रमेण आहृत चपलमनः ) योग शास्त्र उक्त प्राणायाम क्रम से विषयों से चंचल मन का निरोध करने वाला योगी ( पुण्ये निर्दोषदेशे ) पवित्र पुण्य देनेवाले मशक आदि उपद्रव दोषसे शून्य ऐसे विजन देश में पहले ( स्थूले ) स्थूल मूर्ति आदिकों में मन का निरोध कर अनंतर ( सूक्ष्मे ) सूक्ष्म परमात्मा में मन का निरोध करके उस परमात्मा का ही ( ध्यायन् ) ध्यान करता हुआ तथा ( एकात्म्य सौख्य स्थिर गलित मनः ) एक आत्म सुख में ही मन को स्थित करके एकी भूत मन से ( मोह बंधं छिनत्ति ) अज्ञान बंधन का नाश कर देता है ॥११॥

जिसने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है वह मरण पर्यंत समाधि में स्थिर रहे अथवा यथा प्रारब्ध विषय व्यवहार करे। इनसे विद्वान् को किसी प्रकार का लाभ वा हानि नहीं है, क्योंकि विद्वान् निर्दोष और सम ब्रह्म रूप है। अब इस अर्थ को दिखलाया जाता है—

मालिनी छन्द ।

**निरवधि सुखभूमानंतसंवित्परात्मन्यनुभवमधि-रूढे वाक्यतो योगतो वा। भवतु दृढ़ समाधिर्लोक संग्राहको वा भजतु विषय जातं नैति भूयोपि बंधम् ॥१२॥**

महावाक्यसे अथवा योगसे जिसको अवधिरहित अखंड चैतन्य स्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त हुआ है वह दृढ़ समाधि में रहे अथवा लोक संग्रह के भाव से विषय सेवन करे, फिरसे उसे बंधन प्राप्त नहीं होता ॥१२॥

( महा वाक्यतः योगतोवा) महावाक्य के श्रवण विचारमात्र से अथवा योग अनुष्ठान पूर्वक ( निरवधि सुख भूमानंत संवित् परात्मनि अनुभवं अधिरूढे ) सीमा रहित परमानन्द अखंड चैतन्य सर्वोत्कृष्ट रूप परमात्मा के साक्षात्कार के अनुभव की दृढ़ता प्राप्त होने पर फिर ( भवतु दृढं समाधिः ) उसको दृढ़ समाधि बनी रहे ( वा लोक संग्राहकः विषय जातं भजतु ) अथवा शिष्य पुत्र रूप लोकों के शिक्षा के अभिप्राय से उचित विषयों का वह सेवन करे ( नैति भूयोपि बंधम् ) वह विद्वान् फिर सर्वथा बंधन को प्राप्त नहीं होता ॥१२॥

अब उक्त आत्म साक्षात्कार की स्तुति करते हैं—

**अपि भूपरमाणु भूरि संख्येष्वपयातेषु चतुर्मुखे-ष्वलब्धात् । अपदुःखनिरंत सौख्यसिंधोर्नच**

**लाभोऽस्ति परो निजात्म लाभात् ॥१३॥**

पृथ्वी के जितने परमाणु हैं उतने अर्थात् अनंत ब्रह्मा व्यतीत होजाने पर भी जो प्राप्त नहीं हुआ है ऐसा सर्वथा दुःखरहित अनंत सुख समुद्ररूप निजात्म लाभ से अन्य कोई उत्तम लाभ नहीं है ॥१३॥

( भूपरमाणु भूरिसंख्येषु चतुर्मुखेषु अपि अपयातेषु ) पृथिवी के परमाणुओं से भी अधिक संख्या वाले हिरण्यगर्भों के व्यतीत हो जाने पर भी (अलब्धात् दुःख निरंत सौख्य सिंधोः निज आत्मलाभात् परो लाभो नच अस्ति ) न प्राप्त हुए दुःख संपर्क शून्य अनंत सुख समुद्र रूप निज आत्म लाभ से उत्तम और कोई लाभ नहीं है। भाव यह है कि अनेक वार अति दुर्लभ चतुरानन पदवी प्राप्त हुई, तुच्छ योनि जन्मों की तो वार्ता ही क्या, परन्तु आत्म लाभ न हुआ, इससे आत्म लाभ परम दुर्लभ है ॥१३॥

आत्म लाभ भी वास्तव नहीं है, क्योंकि आत्मा नित्य प्राप्त है, परन्तु अज्ञान रूप मोह से अप्राप्त हुए के सदृश और ज्ञान से कुन्तीनंदन कर्ण के सदृश प्राप्त हुए के समान आत्मा है। अब इस तत्त्व को कंठस्थ भूषण के दृष्टांत से दिखलाते हैं—

स्रग्विणी छन्द ।

**मोह मात्रादलब्धस्य लाभस्त्वसौ स्वात्मनः**
**कंठचामीकर न्यायतः। बोधमात्रं तदाक्रम्य**
**यस्माच्छ्रुतिः प्राह भूयः पदेनानुविन्देदिति ॥१४**

जैसे अज्ञान मात्र से अप्राप्त कंठी की बोध से प्राप्ति होती है वैसे ही अज्ञान से अप्राप्त आत्मा की बोध मात्र से प्राप्ति होती है। इससे ज्ञानका आरंभ कर, श्रुति कहती है कि इस आत्मज्ञान द्वारा सर्व आत्मा को जान ॥१४॥

( कंठ चामीकर न्यायतः मोह मात्रात् अलब्धस्य स्वात्मनः तु असौ लाभः बोध मात्रम् ) जैसे कंठस्थ सुवर्ण भूषण का ही, कोई पुरुष उस भूषण के खो जाने की शंका से, अन्वेषण करे फिर दैवात् पास आये हुए किसी दयालु ने उससे कहा कि तेरे गले में ही वह भूषण है, तब उस पुरुष को भूषण का बोध मात्र लाभ है, क्योंकि भूषण तो नित्य प्राप्त है। तैसे अज्ञान मात्र से अप्राप्त अपने आत्मा का पूर्व उक्त यह लाभ भी आत्मा का बोध मात्र ही है, क्योकि अपना आत्मा किसी काल में भी और किसी भी पुरुष को अप्राप्त नहीं है, ( यस्मात् श्रुति प्राह भूयः पदेनानुविंदेत इति ) जिस कारणसे श्रुति भगवती ( आत्मेत्युपासीत ) इस प्रकार ( तदाक्रम्य ) उस ज्ञानको प्रथम आरंभ करके अर्थात् ग्रहण करके ( भूयः ) पुनः फिर यह ( प्राह ) कहती है कि ( पदेनानुविंदेत् इति ) 'अनेन ह्येतत्सर्वं वेद यथाह वैपदेनानुविंदेत् इति' अर्थात् इस आत्म ज्ञान से ही सर्व आत्मा को जानते हैं। जैसे दृष्टांत है कि पशु को लोग खुरके चिह्न से ही खोजते हैं ॥१४॥

शंका—आपने पूर्व कहा है कि ज्ञान से अज्ञान का नाश होजाता है, यह यथार्थ है तथापि जैसे नष्ट हुआ जगत् फिर होजाता है तैसेही नष्ट हुआ ज्ञान भी फिर हो जावेगा। इस शंका का निरसन किया जाता है—

**बाधितं स्यादसद्ध्वस्त वैधर्म्यतो मोह बाधोपि न ध्वंस रूपो परः । बाध बुद्धिश्च नाभाव-मात्र प्रथास्यादभावोऽप्यधिष्ठान रूपोऽथवा ॥१५**

बाधित वस्तु असत् है, नाश विधर्मयुक्त है, मोहबाध ध्वंसाभाव रूप नहीं है, अपर है और अत्यन्ताभाव मात्र रूप भी बाधबुद्धि नहीं है। अथवा अभाव भी अधिष्ठान रूप ही है। ( इससे अज्ञान फिर नहीं होता ) ॥१५॥

( बाधितं असत् स्यात ) बाधित वस्तु असत् है, ( ध्वस्त वैधर्म्यतः ) क्योंकि नाश हुआ कार्य संस्कार रूपसे अपने कारण में तिरोभूत हो करके सदा ही रहता है परन्तु बाधित हुआ असत् मिथ्या पदार्थ वैसे नहीं रहता। इस प्रकार नाश हुए पदार्थ की और बाधित पदार्थ की विधर्मता है। ( मोह बाधः अपि न ध्वंसरूप अपरः ) मोह अर्थात् अज्ञान का बाध भी ध्वंसाभाव रूप नहीं है अतः अपने अधिष्ठानसे भिन्न नहीं है, क्योंकि कल्पित पदार्थ का अभाव अधिष्ठान से भिन्न नहीं होता। बाध त्रैकालिक विषय होता है अर्थात् बाध किया हुआ पदार्थ न पहले था और न अब है और न आगे होवेगा इस प्रकार कल्पित पदार्थ के त्रिकालाभाव निश्चय का नाम बाध है, परन्तु ध्वंसाभाव वर्तमान कालिक होता है, अतः बाध ध्वंसाभाव से पृथक् है और विचारकर देखा जावे तो सादि अनंत लक्षण वाला प्रध्वंसाभाव ही असिद्ध है, क्योंकि अभाव के साथ कारक सामग्री का संसर्ग असंभव है। अन्य के संसर्ग से अन्य की उत्पत्ति कहना अति प्रसंग से दूषित है। अथवा, जैसे पर मत वालों ने ध्वंस को

जन्य और नित्य माना है तैसे ही अज्ञान निवृत्ति भी नित्य है, क्योंकि कल्पित पदार्थ की निवृत्ति सिद्धांत में अधिष्ठान रूप ही मानी है और अधिष्ठानत्व के मिथ्या होने पर भी अधिष्ठान का स्वरूप नित्य है। इसलिये नष्ट हुए अज्ञान की फिर उत्पत्ति नहीं होती इस तात्पर्य से आचार्यों ने यहां मोह बाध को ध्वंस रूप कहा है और अधिष्ठान से मोह बाध को अपृथक् कहा है।

(अभाव मात्र प्रथा बाध बुद्धिश्च) और अत्यन्ताभाव मात्र रूप भी बाधबुद्धि नहीं, क्योंकि बाधबुद्धि यह सर्प नहीं किंतु यह रज्जु ही है इस प्रकार अधिष्ठान को भी ग्रहण करती है, (अथवा अभावोपि अधिष्ठान रूपः स्यात्) अथवा बाध बुद्धि अत्यन्ता भाव रूप रहो परन्तु सिद्धांत में अभाव भी अधिष्ठान रूप ही है पदार्थान्तर नहीं। इसी तात्पर्य से सिद्धांत में एक मात्र अत्यन्ताभाव को माना भी है। इससे भी अज्ञान के फिर हो जाने की शंका नहीं हो सकती ॥१५॥

काम कर्म, अविद्या ही जन्म के कारण हैं। उनके अधिष्ठान के ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति कही, अब कर्मों की निवृत्ति कहते हैं। इसीसे ब्रह्मवेत्ता को जन्म मरण का भय नहीं है।

**कर्म जातं समारब्धदेहेतरत्सत्वरं भस्मतामेति बोधाग्निना। श्लिष्यते नैष्यताप्येष बोधोज्ज्वलः कर्मणा जीवनेनेवपद्मच्छदः ॥१६॥**

ज्ञानरूप अग्नि से प्रारब्ध कर्म से भिन्न कर्म शीघ्र ही भस्म होते हैं और आगामी कर्मों से भी बोधवान ज्ञानी

लेपायमान नहीं होता, जैसे जल में रहकर कमलपत्र जल से लेपायमान नहीं होता ॥१६॥

( बोधाग्निना ) ज्ञान रूप अग्नि से ( समारब्धदेहेतरत् ) प्रारब्ध कर्म से भिन्न ( कर्म जातम् ) संचित कर्मों का समूह ( सत्वरम् ) शीघ्र ही ( भस्मतां एति ) भस्म रूपता को प्राप्त हो जाता है और ( एष्यता कर्मणापि ) प्रारब्ध कर्म से उत्पन्न हुए शुभाशुभ रूप अगामी कर्मों से भी ( बोधोज्ज्वलःएष ) ज्ञान से निर्मल हुआ यह ब्रह्म वेत्ता ( न श्लिष्यते ) लिपायमान नहीं होता है, ( जीवनेन इव पद्मच्छदः ) जैसे जल में रहा हुआ भी कमलपत्र जल से लेपायमान नहीं होता। भाव यह है कि प्रारब्ध कर्म भोग से नाश हो जाता है, संचित कर्मों का ज्ञान अग्निसे दाह होजाता है और अगामी कर्मों का ज्ञानीको स्पर्श ही नहीं होता, क्योंकि भक्त लोगों को ज्ञानी के आगामी पुण्य मिल जाते हैं और ज्ञानी के निंदक द्वेषी लोगों को ज्ञानी के आगामी पाप कर्म चले जाते हैं। यह सर्व अर्थ श्रुति स्मृति तथा सूत्रसंप्रदायिक ग्रंथों में स्पष्ट रूप से खोला हुआ है ॥१६॥

शंका—संचित अगामी कर्मों के सदृश प्रारब्ध कर्म की भी निवृत्ति क्यों नहीं मानी ? समाधान—यदि प्रारब्ध की भी निवृत्ति हो जाती हो तो ज्ञानी को सामग्री के अभाव से भोग नहीं होगा इस तात्पर्य से प्रारब्धकर्म की स्थिति दृष्टांत से बतलाई जाती है—

**चोरबाधेपि तज्जन्यभीत्यादिवच्चेलदाहेपि भस्मैव चेलाकृति। ज्ञानिनां विश्वमादेह पातं स्वतो बाधितत्वेपि चारब्धभोगक्षमम् ॥१७॥**

कल्पित चोर के बाध होनेपर भी भय तथा कंप और वस्त्र के जल जाने पर भी उसकी आकृति दीखती है, तैसे ही अज्ञान के बाध होनेपर भी विश्व ज्ञानी के देहपात पर्यंत प्रारब्ध भोग को देने में समर्थ होता है ॥१७॥

( चोरबाधेपि ) स्थाणु में मिथ्या प्रतीत हुए चोर के बाध होने पर भी ( तत् जन्यभीति आदि वत् ) जैसे उस चोर जन्य भय कंप आदिक किंचित् काल बने रहते हैं और ( चेलदाहेऽपि चेलाकृतिभस्म इव ) जैसे वस्त्र के दग्ध होने पर भी किंचित्काल वस्त्र के आकार का दग्ध वस्त्र का भस्म प्रतीत होता है, ( स्वतः बाधितत्वेपि ) तैसे ही स्वतः सर्व जगत् के बाध होने पर भी ( ज्ञानिनां आदेहपातम् ) ज्ञानीयों के देहपतन पर्यंत ( विश्वम् ) यह जगत् भी ( प्रारब्ध भोग क्षमम् ) देहआदिकों में प्रारब्ध संपादित भोग देने को समर्थ प्रतीत होता है ॥१७॥

शंका—ब्रह्मवेत्ता के अहंता ममता रूप अध्यास का अभाव है इसलिये ब्रह्म वेत्ताको भोग कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। इसलिये विश्व की स्थित ज्ञानी के लिये तो अजागल स्तन वत् निरर्थक है।

इस शंका का परिहार इष्टापत्ति से किया जाता है।

**जीवतोऽप्यस्य न ह्यात्म बुद्धिस्तनौ वामलूरेऽप्यहेर्निर्ल्वयिन्यामिव । मोहमात्रात परे कल्पयंत्यस्य चेद्‌ देहितामस्तु तद्धानिरस्येह का ॥१८॥**

बांवी में त्यागी हुई कंचुकी में सर्प को वह मैं हूं ऐसी बुद्धि नहीं होती, वैसे ही शरीर में रहते हुए ज्ञानी को उसमें आत्म बुद्धि नहीं होती। यदि अपने मोह से कोई ज्ञानी में देहाभिमान की कल्पना करता है तो भले करे, उससे विद्वान के स्वरूप में हानि ही क्या है? ॥१८॥

( वामलूरे अहेः निर्ल्वयिन्यां इव ) जैसे वामलूर नाम वल्मीक में त्यागी हुई स्वकंचुक रूप त्वचा में सर्प को उसके दीखने पर भी आत्म बुद्धि नहीं होती, तैसे ही ( जीवतः अपि अस्य तनौ नहि आत्मबुद्धिः ) जीते हुए भी इस ब्रह्मवेत्ता को मैं ब्राह्मण हूं, मैं संन्यासी हूं, इत्यादि रूपसे शरीरमें आत्म बुद्धि नहीं होती। ( चेत् ) यदि ( परे ) अन्य अज्ञजन ( मोहमात्रात् ) अपने अज्ञान मात्र से ( अस्य ) इस ब्रह्मवेत्ता के प्रारब्ध बल से उत्साह प्रवृत्ति आदिक देखकर ( देहिताम् ) देहाभिमानिपने की ( कल्पयंति ) कल्पना करते हैं तो ( अस्तु ) अज्ञानी भले वैसी कल्पना किया करे ( तत् ) उस अज्ञों की कल्पना से ( अस्य ) इस विद्वान् के ( इह ) स्वरूप में ( का हानिः ) क्या हानि है अर्थात् किंचित् भी हानि नहीं है ॥१८॥

प्रारब्ध कर्मों के नाश न होने से ज्ञान प्राप्त होने पर भी जय विजय आदिकों के सदृश किसी विचित्र अदृष्ट कर्म के वश ज्ञानी को जन्म आदि होंगे ही ऐसी कोई शंका करे तो उसका निवारण करते हैं—

ईशते ज्ञात तत्त्वस्य नाभूतये यत्नवंतोपि सर्वेपि देवासुराः। कोहि नामात्मनोऽनिष्ट

कारी भवेदात्मभूतो यतिस्त्वेष तेषामपि ॥१६॥

सर्व देवता तथा असुर आदि भी प्रयत्न करके ब्रह्मवेत्ता का अहित करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि अपने आत्मा का अनिष्ठ कौन करेगा ? और यह देवतादिक का भी आत्मा है ॥१६॥

( ज्ञात तत्त्वस्य ) ब्रह्मवेत्ता के ( अभूतये ) अहित के लिये अर्थात् सर्वात्मक ब्रह्मभाव प्राप्ति के निराकरण पूर्वक किसी जन्मांतर रूप अनर्थ के लिये ( सर्वे देवासुराः ) सर्व देवता वा असुर वा मनुष्य ( यत्नवन्तोऽपि ) यत्न करें तो भी ( न ईशते ) समर्थ नहीं हैं, ( हि ) क्योंकि ( आत्मनः ) अपने आपको ( अनिष्टकारी ) अनर्थ करने वाला ( कः भवेत् ) कौन होता ? अर्थात् कोई भी नहीं होता ( एष यतिस्तु ) और यह सफल आत्मज्ञानवाला विद्वान् तो (तेषामपि) उन देवताओं और असुरों का भी ( आत्मभूतः ) आत्मा है इसलिये उसका कोई अनिष्ट नहीं कर सकता। 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषा स भवति' इस श्रुति का अर्थ यहां चिंतन करना चाहिये ॥१९॥

राग आदिक दोषों के अभाव से यह विद्वान् किसी का अनिष्ट नहीं करता अतएव इसकोभी कोई अनिष्ट नहीं करता इस तात्पर्य से कहते हैं—

राग लोभ प्रमादादिदोष त्त्वयान्नायमासज्जते दुश्चरित्रे क्वचित् । साधुवत्साधु चारित्र्यरचापरः साधुमार्गेण संस्कारतो वर्तते ॥२०॥

राग लोभ प्रमादादि दोषों के नाश हो जाने से ब्रह्मवेत्ता कभी भी निषिद्धाचरण नहीं करता। पूर्व संस्कार से साधु के समान वह सदाचारी सब पर ही उपकार करने वाला होता है ॥२०॥

( अयम् ) यह ब्रह्मवेत्ता ( क्वचित् ) किसी काल में भी ( राग लोभ प्रमादादि दोषक्षयात ) राग लोभ प्रमाद आदिक दोषों के नाश होजाने से ( दुश्चरित्रे न आसज्जते ) निषिद्धाचरण में प्रवृत्त नहीं होता किंतु (साधुवत साधुचारित्र्यरक्षापरः) स्वधर्म के अनुष्ठान रूप सज्जन पुरुषों के चरित्र का पालन करता हुआ यह विद्वान् साधु मुमुक्षु पुरुषों के ही समान ( साधु मार्गेण वर्तते ) सर्व प्राणियों के ऊपर उपकार करने वाले मार्ग में ही वर्तमान होता है, ( संस्कारतः ) क्योंकि इस विद्वान् को अनेक पूर्व जन्मों के शुभाचरण के ही संस्कार हैं तथा मुमुक्षु अवस्था कृत शुभाचरणों के भी दृढ़ संस्कार हैं ॥२०॥

ऐसा ब्रह्मवेत्ता निर्विकार हो करके देवता की तरह विश्व पूज्य हुआ पृथिवी में विचरता है इस तात्पर्य से कहते हैं—

**न प्रहृष्यत्यसौ प्राप्य भूयः प्रियं मेरु वन्निश्चलो भूरिकृच्छ्रेष्वपि। भावयन्नात्मनात्मानमानन्दितो देववत् संचरत्येव विश्वंभराम् ॥२१**

यह ब्रह्मवेत्ता प्रिय पदार्थों की प्राप्ति में प्रसन्न नहीं होता वैसे ही दुःख में भी मेरु के समान अचल रहता है

तथा आत्म भाव से ही आनंदित होता है। इस प्रकार वह देवताओं के समान विश्व में विचरता है ॥२१॥

( असौ ) यह ब्रह्मवेत्ता ( भूयः प्रियं प्राप्य ) अतिशय प्रिय वस्तु को प्राप्त होकर के ( न प्रहृष्यति ) प्रसन्न नहीं होता ( भूरि कृच्छ्रेषु अपि मेरु वत् निश्चलः ) और तैसे ही बहुत दुःखों के प्राप्त होने पर भी यह विद्वान् सुमेरु पर्वत के समान अचल ही रहता है अर्थात् क्षोभ को प्राप्त नहीं होता है।

क्योंकि ( आत्मानंभावयन् आत्मना आनन्दितः) वह आत्मा का सदा विचार करता है और अपने स्वरूप के आत्मानंद से ही यह विद्वान् आनन्दित रहता है ( देववत् संचरति एव विश्वं-भराम् ) और इस प्रकार ज्ञानी आत्मानंद से आनंदित रहकर स्वमहिमा में स्थित हुआ ही इस पृथिवी में देववत् पूज्य होकर विचरता है ॥२१॥

प्रारब्ध कर्म के विचित्र विचित्र होने से ब्रह्मवेत्ताओं की स्थिति में भी विचित्रता है, यह अर्थ अब दिखलाते हैं—

**केपि वर्णाश्रमाचार निष्ठा परा मुग्ध बाल प्रमत्तोपमाश्चापरे। रागिणो भोगिनो योगिनश्चेतरे ज्ञानिनां लक्ष्यते नैकरूपा स्थितिः ॥२२॥**

कोई ज्ञानी वर्णाश्रम धर्म में निष्ठा वाला है, कोई मूढ, बाल और प्रमत्तके समान है, कोई रागी और कोई भोगी है तथा कोई योग में रत है। इस प्रकार प्रारब्ध की भिन्नता से ज्ञानी एक प्रकार के देखने में नहीं आते ॥२२॥

( केपि ) कोई श्रीरामोपदेष्टागुरुतमगुरु श्रीवसिष्ठ आदिक ब्रह्मवेत्ता ( वर्णाश्रमाचारनिष्ठापराः ) स्ववर्ण आश्रम के आचार में ही तत्पर हैं, (चापरे) और दूसरे कोई जड़ भरत आदिक ब्रह्म-निष्ठ ( मुग्धबाल प्रमत्तोपमाः ) अज्ञानियों, बालकों, तथा ग्रहग्रस्त प्रमत्तों के समान रहते हैं, ( च इतरे रागिणो भोगिनः ) दूसरे कोई सौभरि आदिक ब्रह्मवेत्ता भोगों के भोगने में तत्पर से रहते हैं, ( योगिनः ) और दूसरे कोई जैगीषव्य आदिक ब्रह्मवेत्ता अष्टांग योग से समाधि में ही रहते हैं। इस प्रकार प्रारब्ध कर्म की विचित्रता से ( ज्ञानिनां एक रूपा स्थित न लक्ष्यते ) ज्ञानिओं की स्थिति अर्थात् आचरणमर्यादा एक रूप नहीं दिखाई देती ॥२२॥

प्रायः विद्वानों की चर्या जानी नहीं जाती, अब इस अर्थ को ही दृष्टांत पूर्वक बतलाते हैं—

शार्दूल विक्रीडित छन्द।

**स्वानंदे सहजे सदा विहरतां स्वच्छंदलीला जुषां निःसंगा च निरर्गलाच जगतां कल्याण संदोहिनी। मत्स्यानां सलिलेऽम्बरे च वयसां वायोरिवाशामुखे दुर्लक्ष्ये पथियोगिनां बहुविधा गूढा विचित्रा गतिः ॥२३॥**

स्वभाविक आनन्द में हमेशा विचरते हुए स्वेच्छा से लीला करने वाले योगियों की, संग रहित, प्रतिबंध रहित, जल में मछलियों के समान, आकाश में पक्षियों के समान

और दिशाओं में वायु की गति के समान दुर्लक्ष्य मार्ग में बहुत प्रकार से विचित्र और गूढ गति होती है ॥२३॥

( स्वानंदे सहजे सदा विहरतां ) स्वतः सिद्ध आत्मानंद में सर्वदा विहार करने वाले तथा ( स्वच्छंद लीला जुषाम् ) स्व इच्छा से लीला करने वाले ( योगिनाम् ) ज्ञानी महात्माओं की ( दुर्लक्ष्ये पथि ) साधारण जनों से दुर्विज्ञेय ऐसे मार्ग में ( बहुविधा गूढा विचित्रा गतिः ) अनेक प्रकार की तथापि गूढ छिपी हुई तथा विचित्र आश्चर्य रूप गति अर्थात् चर्या होती है। ( निःसंगा ) वह सब संग से रहित है अर्थात् एकांत विजन देश में निर्विकल्पाचरण रूप वह गति है, ( निरर्गला ) प्रतिबंध से रहित है तथा ( जगतां कल्याण संदोहिनी ) विश्व का कल्याण करने वाली ऐसी जो ज्ञानिओं की लोकसंग्रह के निमित्त गति है वह दुर्विज्ञेय है, अनेक विध, गूढ तथा विचित्र है ( मत्स्यानां सलिले ) जैसे मत्स्य आदिक जलचरों की जल में, ( अंबरे वयसां ) जैसे पक्षियों की आकाश में और ( वायोः आशामुखे इव ) जैसे वायु की दिशाओं के मुख में गति दुर्विज्ञेय होती है ॥२३॥

ब्रह्मवेत्ता सर्व से उत्कृष्ट है, इस बात को दिखलाते हैं--

**योगिध्येय पदाम्बुजस्त्रिजगतां नाथो हरिः स्वं स्वयं शान्तं नित्यमनुव्रजामि रजसा पूयेय मित्यब्रवीत् । तस्माद्विश्वगुरोः सुरासुर नरै-रानम्य पादाम्बुजादात्मानन्द निमग्न निश्च-**

लमते रन्योऽत्र धन्योऽस्ति कः ॥२४॥

तीनों लोकों के स्वामी श्रीहरि स्वयम् कहते हैं कि शान्त आत्मानन्द में निश्चल जिसकी बुद्धि निमग्न है ऐसे ज्ञानी के पीछे चलता हूं इसलिये कि उसके चरणों की रज से मैं हमेशा पवित्र होऊं जिसके चरण कमल सुर असुर और मनुष्यों को नमन करने योग्य है इसी कारण से वह विश्वका गुरु है। यहां उससे अन्य कौन धन्य है? ॥२४॥

( योगि ध्येय पदाम्बुजः ) योगीजनों के ध्यान करने के योग्य है चरण कमल जिसके ऐसा जो ( त्रिंजगतां नाथः हरिः ) तीनों लोकों का स्वामी श्री हरि है वह हरि भी जिसके लिये ( स्वं स्वयं शांतं नित्यं अनुव्रजामि रजसा पूयेयं इति अब्रवीत ) 'मैं स्वयं ब्रह्मरूप और शांत ज्ञानीके पीछे सदा चलता हूं इसलिये कि उसके चरणकमलों की रज से मैं पवित्र होऊ' इस प्रकार कह गये हैं ( सुरासुरनरैःआनम्य पादांबुजात ) देवता, असुर और मनुष्यों से नमस्कार करने योग्य हैं चरणकमल जिसके ( आत्मानन्दनिमग्न निश्चलमतेः ) तथा आत्मानंद में प्रविष्ट निश्चल है बुद्धि जिसकी ( तस्माद्विश्वगुरोः अन्यः अत्र कः धन्यः अस्ति ) ऐसे जगत् गुरु ब्रह्मवेत्ता से भिन्न इस व्यवहारास्पद संसार में वा शास्त्र व्यवहार में कौन सर्वोत्कृष्ट, श्लाघनीय, सुभाग्य तथा धन्य है ? कोई भी नहीं ॥२४॥

नित्यतृप्त पूज्यतम विद्वान् की लोक उपकार के लिये स्वाभाविक चेष्टा को अब दिखलाते हैं—

सोऽयंपूर्ण मनोरथोपि सहजात् कौतूहलात्

**पर्यटन्नुर्वीं सर्व हिते रतः प्रतिपदं स्वानंदमास्वादयन्। साश्चर्यं सकुतूहलं सकरुणं सानंदमुत्कंठया धीरः पारमवाप्य मोह जलधेरेवं मुहुर्गायति ॥२५॥**

सो वह धीर पुरुष मोह समुद्र के पार होकर पूर्ण मनोरथ हुआ भी सब के हित में रत है और कौतुक से ही पृथ्वी पर विचरता है। पग पग पर स्वरूप के आनन्द का स्वाद लेता हुआ, आश्चर्य सहित कौतुक सहित, करुणा, आनन्द और उत्कंठा से बारंबार इस प्रकार गाता है ॥२५॥

( सोऽयं धीरः ) ऐसा यह विद्वान् ( मोह जलधेः पारं अवाप्य पूर्ण मनोरथः अपि ) अज्ञान समुद्र के परपाररूप ब्रह्मको प्राप्त होकर पूर्णमनोरथ हुआ है तथा ( सर्व हिते रतः ) सर्व के हितमें प्रेम वाला होने से ( सहजातकौतूहलात् उर्वीं पर्यटन् ) स्वाभाविक कुतूहलभाव से अर्थात् प्रयोजन के विना ही पृथिवी में विचरता है तथा ( प्रतिपदं स्वानन्दं आस्वादयन् ) पग पग पर आत्मानन्द का आस्वादन करता हुआ, अनुभव करता हुआ ( साश्चर्यम् ) यह दुर्विज्ञेय ब्रह्म मैंने कैसे जान लिया इस प्रकार आश्चर्य सहित होकर ( मुहुः गायति ) पुनः पुनः गान करता है। किस कारण ऐसा करता है ? ( सकुतूहलम् ) उसने बहुत दुर्ज्ञेय तत्त्व का अनुभव किया है इसका उसे बड़ा आश्चर्य है, ( सकरुणं ) उसके समान और भी अधिकारी जन अपने परमार्थ स्वरूप को अनायास से ही जान जावे इस

प्रकार कृपा के सहित होकर तथा ( सानन्दम् ) वह कृतार्थ हुआ होने से आनन्द के सहित होकर गाता है अर्थात् कहता है। किस लिये ? ( उत्कंठया ) स्वलाभानन्द के प्रकट करने की उत्कृष्ट इच्छा से यह विद्वान् वक्ष्यमाण रीति से गाता है ॥२५॥

अब विद्वान् का गान आरंभ करते हैं। प्रथम लोक संग्रह अर्थ विद्वान् गुरुका गीत गाते हैं—

शिखरिणी छन्द ।

**चिरान्मग्नेनान्तः प्रकृतिविषमे जन्मजलधौ मया पुण्यैर्लब्धो गुरुरमृतचिन्तामणिरहो । यदीयाभिर्गोभिर्विशदमधुराभिर्वितिमिरे स्वसंपूर्णे यस्मान्निरवधिसुखे धामनि रमे ॥२६॥**

स्वाभाविक संकटरूप जन्म समुद्र के बीच में बहुत काल से मैं डूबा हुआ था। अब मैंने अमृत चिंतामणि स्वरूप गुरु को महा पुण्य से प्राप्त किया है और गुरु रूप मणि की स्पष्ट प्रिय वाणी स्वरूप प्रभा से अंधकार रहित स्वपूर्ण अवधि रहित सुख स्थान में रमण करता हूं ॥२६॥

( प्रकृतिविषमे जन्मजलधौ अन्तः ) स्वभाव से संकटरूप जन्म समुद्र के बीच में ( चिरात्निमग्नेन मया ) बहुत काल से निमग्न रह कर अंत में मैंने ( अमृत चिंतामणिः गुरुः अहो पुण्यैः लब्धः ) अमृत रूप तथा चिंतामणि रूप गुरु किसी पुण्य प्रभाव से प्राप्त किया है। अपने ब्रह्म तत्त्व के उपदेश से शिष्य को भी अपने समान गुरु जन्म मरण से रहित कर देता है, इस

कारण सत्गुरु अमृत रूप है और शिष्य को मनवांछित निर्विकल्पना को प्राप्त कर देता है इस कारण गुरु चिंतामणि है। अथवा अमृत चिंता का देने वाला होने से गुरु को अमृत चिंतामणि कहा है। जैसे अमृत चिंतामणि की प्राप्ति आश्चर्य जनक है तेसे ही सत्गुरु की प्राप्ति भी आश्चर्य जनक ही है, क्योंकि न तो अल्प पुण्यों वाले को अमृत चिंतामणि ही मिलती है और न सत्गुरु ही मिलते हैं क्योंकि ( यस्मात् यदीयाभिः गोभिः विशद मधुराभिः ) क्योंकि उस गुरु रूप मणि के स्वच्छ और प्रिय वाणीरूप प्रभाओं से ( वितिमिरे ) अंहकार से शून्य तथा ( स्वसंपूर्णे ) आत्मा से व्याप्त अर्थात् एकांत स्वमहिमा में स्थित तथा ( निरवधि सुखे धामनि ) सीमा रहित आनन्द रूप अर्थात् परमानन्दरूप स्व स्वरूप में ( रमे ) मैं रमण करता हूं ।।२६।।

अब स्वानुभूत अविद्या के फल को तथा विद्या के फल को विद्वान् गाता है—

**यथा पूर्वं माया परिकलितदृष्टिर्निजसुखं स्वयं भातं पश्यन्नपि न परि पश्यामि सहजम् । तथेदानीं ज्ञानांजनविमलचक्षुर्जगदिदं चिदाकाशे पश्यन्नपि न परिपश्यामि वितथम् ।।२७।।**

ज्ञान से पहिले सहज स्वभाव से ही प्रकाशने वाले निज सुख स्वरूप आत्मा को माया से ढपी हुई दृष्टि से देखता नहीं था। इस समय ज्ञानांजन से निर्मल दृष्टि होने

के कारण मैं चिदाकाश में इस मिथ्या जगत् को देखता हुआ भी नहीं देखता ॥२७॥

( यथापूर्वम् ) जैसे ज्ञान के पहिले ( सहजं स्वयं भातं निज सुखं पश्यन्नपि माया परिकलितः दृष्टिः न परिपश्यामि ) स्वाभाविक स्वयं प्रकाश आत्मानन्द को देखता हुआ भी अर्थात् सर्वत्र प्रतीयमान आनन्द को अनुभव करता हुआ भी माया आच्छादित दृष्टि वाला होने से मैं उस उक्त लक्षण स्वात्मा को नहीं देखता था। अर्थात् यह चेतन आत्मा है इस प्रकार नहीं जानता था ( तथा इदानीं ) तथा इस वर्तमान कालमें ( ज्ञानांजन विमल चक्षुः ) ज्ञानरूप अंजन से निर्मल दृष्टि वाला होकर अब मैं ( चिदाकाशे ) चिदाकाश में ( वितथं इदं जगत् पश्यन् अपि ) मिथ्या रूप इस जगत् को देखता हुआ भी ( न परिपश्यामि ) सत्यरूप से नहीं देखता ॥२७॥

स्वात्मानुभव से जगत् तिरोहित होगयाः है इस भाव को कहता है—

**न वेद्यो नावेद्यः स्वरसमति हृद्यः सुखघनो न**
**गद्यो नापोद्यो न पुनरुपरोध्यः कथमपि ।**
**न हेयो नादेयो न पुनरपिधेयः क्षणमहो स्फुरन्ना-**
**त्माऽस्माकं जगदिदमकस्मात् तिरयति ॥२८॥**

स्फुरण होता हुआ हमारा आत्मा अहा ! अनायास ही इस जगत् को तिरोधान करता है, स्वभाव से ही परम प्रिय है आनंदघन है जाना जाय ऐसा भी नहीं और न

जाना जाय ऐसा भी नहीं है। कहने योग्य नहीं है और न कहने योग्य भी नहीं है, रोका जाय ऐसा नहीं है क्षण मात्र भी आच्छाद्य नहीं है, न ग्रहण योग्य है और न त्याग योग्य है ॥२८॥

अखण्डाकार वृत्ति से ( स्फुरन् ) साक्षात्कार किया हुआ ( अस्माकं आत्मा ) हमारा आत्मा ( अहो ) बड़ा आश्चर्य है कि ( अकस्मात् ) अनायास से शीघ्र ही ( इदं जगत् तिरयति ) इस जगत् को तिरोधान करता है। वह आत्मा कैसा है ? ( स्वरसम् ) स्वभाव से ही ( अति हृद्यः ) परम प्रिय है, ( सुखघनः ) सुख मूर्ति है अर्थात् सुखरूप है, ( न वेद्यः ) वेद्य नहीं है अद्वैत होने से आत्मा अज्ञेय है तथा ( अवेद्यः न ) वह आत्मा अवेद्य भी नहीं है क्योंकि अपना स्वरूप है इसलिये नित्य प्रत्यक्ष है। ( न गद्यः ) गुण जाति क्रिया नाम संबंध से रहित होने से आत्मा वाणी से भी कहने योग्य नहीं है। ( न अपोह्यः ) अपना स्वरूप होने से ही वह आत्मा निषेध्य भी नहीं है, ( उपरोध्यः न ) सर्वरूप होने से वह आत्मा निरोध्य भी नहीं है ( न क्षणं अपि अपिधेयः ) सर्व रूप होने से ही वह आत्मा क्षणमात्रभी आच्छाद्य नहीं है तथा ( न हेयः न आदेयः ) अपना स्वरूप होने से वह आत्मा न त्याज्य है और न ग्राह्य है ॥२८॥

अनिर्वचनीय जगत् का तिरोधान भी अनिर्वचनीय ही है अब इस तात्पर्य से कहता है—

**किमस्तं किं ध्वस्तं किमु विलुलितं किंनु गलितं**
**विशीर्णं चागीर्णं ननु सपदि जीर्णं किमथवा ।**

**अमंदे स्वच्छन्दे निरुपमनिजानन्द जलधौ मयि**
**स्वांते शान्ते जगदिदमशेषं न कलये ॥२९॥**

एकरस, प्रकाशरूप, स्वतंत्र, उपमारहित और निजानंद रूप मेरे आत्मसमुद्र में मन के शांत होने से इस संपूर्ण जगत् को मैं नहीं जानता कि क्या यह अस्त हुआ है, क्या ध्वस्त हुआ है, क्या यह मसला गया है, क्या पिघल गया है, क्या गिर गया है, क्या इसको कोई निगल गया है अथवा क्या पके हुए अन्नके समान जीर्ण होगया है ॥२९॥

( अमंदे ) केवल प्रकाश चेतन रूप तथा ( स्वच्छन्दे ) अपने से भिन्न वस्तु मात्र के अभाव होने से स्वतंत्र तथा ( निरुपम निजानंद जलधौ ) तुलना रहित आत्मानंद के समुद्र रूप ( मयि ) मेरे स्वरूप में ( स्वान्ते ) मन के ( शांते ) शांत होनेपर मैं ( इदं अशेषं जगत ) इस संपूर्ण जगत को ( न कलये ) नहीं जानता। अर्थात यह जगत क्या था किसमें था कैसे था, अब कहां चला गया, इत्यादि कलना मुझको नहीं होती, क्योंकि यदि यह जगत् आत्मा से कोई भिन्न वस्तु होता तो इस जगत की इस प्रकार कलना भी करता कि क्या इस संपूर्ण जगत् का ( किं अस्तम ) सूर्य आदि के समान अस्त होगया है ? ( किं ध्वस्तम् ) अथवा यह जगत क्या घट आदिकों के सदृश ध्वस्त हुआ है अर्थात नाश हुआ है ? ( किंमु विलुलितम् ) अथवा यह जगत् क्या पुष्प आदिकों के समान टूट फूट गया है ? ( किन्नु गलितम् ) अथवा यह सर्व जगत् क्या अग्नि के संयोग से घृत की तरह विलीन होगया है अर्थात

पिघल गया है ? ( विशीर्णम् ) अथवा यह जगत् क्या चिरकाल से विकसित होने से शिथिल दलमूल पवन पीड़ित शत पत्र की न्याईं विशीर्ण होगया है ? ( वा गीर्णम् ) अथवा यह जगत् क्या सर्प के मुख में मेंड़क के शरीर के समान चला गया है अर्थात् किसी से निगला गया है ( ननु सपदि जीर्णम् ) अथवा यह संपूर्ण जगत् क्या भुक्त अन्न के सदृश शीघ्र ही जीर्ण हो गया है अर्थात् निःसार होगया है ? भाव यह है कि इस जगत् की सत्ता आत्मा से भिन्न किसी प्रकार से भी दिखलाई नहीं देती है, इसलिये मैं इस जगत् की वा जगत् के नाश की किसी प्रकार से भी कलना नहीं कर सकता ॥२९॥

अनिर्वचनीय जगत् की उत्पत्ति आदिक भी अनिर्वचनीय ही है इस भाव से कहता है—

आर्या छन्द ।

**कथमिदमभवत्कथं नु तिष्ठत्यथ कथमेति लयं प्रतीचि विश्वम् । विमलदृशि निजे निरस्त-संगे पटुपरिमृश्य मृषेति निर्वृत्तोस्मि ॥३०॥**

संग से रहित शुद्ध चैतन्य प्रत्यक् ब्रह्म में यह विश्व कैसे हुआ ? कैसे टिका हुआ है ? कैसे लय होता है ? ( अर्थात् नहीं होता । ) इस प्रकार यह ठीक २ मिथ्या ही है ऐसे निश्चय से मैं सुखी हुआ हूं ॥३०॥

( विमलदृशि ) शुद्ध चेतन, ( निरस्तसंगे ) असंग अर्थात् अपने से वस्तुमात्र के अभाव होने से ही स्व इतर वस्तु के संबंध से रहित निर्विकार, ( निजे प्रतीचि ) अकृत्रिम रूप प्रत्यक्

ब्रह्म में ( इदं विश्वम् ) यह जगत् ( कथं अभवत ) कैसे हुआ ? अर्थात् स्वसत्ता शून्य होने से किसी प्रकार से भी नहीं हुआ है। ( कथं नु तिष्ठति ) और कैसे स्थित होता है ? अर्थात् उक्त हेतु से किसी प्रकार से भी स्थिति वाला नहीं है। ( अथ कथं लयं एति ) और अनंतर कैसे लय को प्राप्त होता ? अर्थात् उक्त हेतु से ही किसी प्रकार से भी लय नहीं होता है। ( पटु परिमृश्य ) इस प्रकार जैसे है तैसे ही निपुणतर विचार करके ( मृषा ) यह जगत मिथ्या ही है ( इति ) इस प्रकार निश्चय करके मैं ( निर्वृतोऽस्मि ) सुखी हुआ हूँ। भाव यह है कि जगत् के उत्पत्ति स्थिति और लय ये तीनों ही नहीं बन सकते, इसलिये स्वप्न के मोदक के संबंधी विचार के सदृश जगत् के उत्पत्ति स्थिति और लय का विचार भी व्यर्थ ही है ॥३०॥

अब अन्य प्रकार से जगत् की उत्पत्ति की असंभवता को विद्वान कहता है--

शिखरिणी छन्द।

**निराधाराकारं निरवयवसंस्थानमचलं निरीहं निर्द्वंद्वं निरुपम निजानंदविभवम्। विनोपायं स्वीयं करण समुदायं च परमं कथं तन्निर्मायं त्रिभुवननिकायं रचयति ॥३१॥**

आधाररहित, आकाररहित, अवयवरहित, अचल, इच्छारहित, अखंड, आनंदरूप ऐश्वर्यवाला तथा माया से रहित परब्रह्म है। वह बाहरके साधनों के विना तथा आंतर

करण विना तीनों लोकों को कैसे रचता है ॥३१॥

( निराधाराकारम् ) आधार से तथा देह रूप आकार से रहित, अतएव ( निरवयवसंस्थानम् ) अवयवों की रचना से रहित अर्थात् हस्त पाद आदिकों से रहित, ( अचलं ) अतएव अचल अर्थात् गति आदिकों से रहित, ( निरीहम् ) आप्तकाम होने से निस्पृह ( निर्द्वंद्वम् ) रागद्वेश आदि द्वंद्वसे रहित, ( निरुपमनिजानन्द विभवम् ) अतुल आत्मानन्दरूप ऐश्वर्यवाला तथा ( निर्मायम् ) असंग होने माया के संबंध से रहित, इस प्रकार के स्वरूप वाला जो ( परमम् ) परब्रह्म है वह परब्रह्म ( बाह्योपायंविना ) बाह्य साधनो विना ( स्वीयं करणसमुदायंच विना ) और अपने अन्तरंग नेत्र आदिक करणसमुदाय के विना ( त्रिभुवन निकायम् ) तीन लोकों को ( कथं रचयति ) कैसे रचता है ? अर्थात् उक्त लक्षण वाले ब्रह्मसे जगत् की रचना किसी प्रकार से भी नहीं है ॥३१॥

इस अनिर्वचनीय जगत् की पालना भी अनिर्वचनीय ही है इस भाव से कहता है—

**न भृत्या नामात्या न खलु विषया नैवच्च विना**
**न चाशूयाः कोशा नच पुर निवेशा न सुहृदः ।**
**तथाप्यात्मैकाकी निजबल वराकीमरि चमूं विजि-**
**त्यैतद्विश्वं भुवनमवतीत्यद्भुतमिदम् ॥३२॥**

आत्मा के नौकर नहीं है, मंत्री नहीं है, इसके देश वा अश्व आदि सेना नहीं है, धनपूर्ण कोश नहीं है, न घर

**तथा गांव है न कोई उसका सन्मित्र है, आत्मा निज बल से ही शत्रु को जीतकर संपूर्ण विश्व की पालना करता है यह बड़ा ही आश्चर्य है ॥३२॥**

( भृत्याः न ) उसके पालन के योग्य देह आदिक भृत्य अथवा नौकर चाकर नहीं हैं। ( नामात्याः ) और बुद्धि आदिक मंत्री भी नहीं हैं ( खलु न विषयाः ) और निश्चय ही शब्द स्पर्श आदि विषय रूप प्रदेश भी नहीं हैं। ( नैव च विना ) और इन्द्रिय रूप अश्व भी नहीं हैं, ( अशून्याः कोशः न च ) सत्य वा पूर्ण अन्नमय प्राणमय आदिक कोश रूप धन के गृह भी नहीं हैं ( नच पुरनिवेशः ), शरीरत्रय रूप ग्राम निवेश भी नहीं हैं अर्थात् स्थूल सूक्ष्म कारण रूप तीन शरीरों में अध्यास रूप ग्राम रचना विशेष भी नहीं हैं ( न सुहृदः ) और शुभ व्यापार रूप मित्र भी नहीं हैं। अतएव ( एकाकी ) सहाय शून्य अथवा अद्वय रूप ( आत्मा ) प्रत्यक् रूप ब्रह्म है। तथापि ( निज बल वराकीं अरिचमूम् ) स्वरूप बल करके अथवा बाहुबल करके तुच्छ की हुई वा तिरस्कार की हुई काम आदिक सेना को अथवा शत्रु की सेना को ( विजित्य ) विशेषतया जीत करके वह प्रत्यक् साक्षी रूप ब्रह्म ( एतत् अवति ) इस निखिल जगत् का पालन करता है, ( अद्भुतं इदम् ) यह बड़ा आश्चर्य है ! अर्थ यह है कि आत्मा से भिन्न यह जगत् स्वप्नवत् है इसलिये इसका पालन भी स्वप्नवत् ही है ॥३२॥

अनिर्वचनीय जगत् का संहार भी अनिर्वचनीय ही है इस तात्पर्य से कहता है—

**असंगोदासीनः स्वरस परमानन्दसुहितो जिघत्सा**

निर्मुक्तश्चिति तनुरपाण्यंघ्रिजठरः । अमा-
योऽप्यात्माऽसौ स्वयमनवकाशोऽपि सहसा
समायं त्रैलोक्यं कवलयति कस्मात्कथमहो ॥३३॥

असंग, उदासीन, स्वाभाविक ही परमानंद, तृप्त, भोजन की इच्छारहित, चेतन स्वरूप, हाथ पैर तथा उदर से रहित मायारहित और स्वयं अवकाश से रहित आत्मा तीनों लोकों का किस प्रकार ग्रास करता है ? अहो बड़ा आश्चर्य है !॥३३॥

( असंगोदासीनः ) जो देहादिकों में अध्यासरूप संग से रहित है, अतएव चेष्टा से रहित है, ( स्वरस परमानन्द सुहितः ) जो स्वभाविक सर्वोत्कृष्ट स्वानन्द से ही तृप्त है अतएव ( जिघत्सानिर्मुक्तः ) जो भोजन आदि करने की इच्छा से रहित है, क्योंकि ( चितितनुः ) चेतन रूप है अर्थात् बाह्यशरीर से रहित होने से चित् शरीर है, ( अपाणी अंघ्रीजठरः ) जो हाथों से तथा पादों से तथा उदर से रहित है ( अमायः ) तथा माया से रहित है ( स्वयं अनवकाशः ) तथा स्वभाव से वा स्वरूप से छिद्र रहित है ( असौ आत्मा ) इस उक्त प्रकार का यह आत्मा ( समायं त्रैलोक्यम् ) माया सहित त्रिलोकों को अर्थात् मायिक तीनों लोकों को ( कस्मात् कथं कवलयति ) किस हेतु से और किस प्रकार ग्रास करलेता है ? ( अहो ) यह बड़ा आश्चर्य है ! अर्थ यह है कि स्वप्न सृष्टि संहार वत् इस जगत् का संहार है, क्योंकि आत्मा से भिन्न यह सर्व जगत् स्वप्नवत ही है॥३३॥

अब अपने स्वरूप बोधकी दृढ़ता के तात्पर्य से कहता है—

**मुहुर्मूढैर्न्यस्तंभृशमपलपाम्यर्थ निचयं न कश्चित् विश्वास्यो न मम यमदंडादपि भयम्। गुणद्वेषी स्वार्थप्रिय इति जगद्वंचनपरं चरित्रं मे चित्रं क्वचिदपि न कश्चित् कलयति ॥३४॥**

मूढ़ द्वारा बारंबार आरोपित किये हुए पदार्थ समूह रूप इस जगत् का अत्यंत निषेध करता हूं मेरा किसी में विश्वास नहीं है और मुझे यम दंडका भय भी नहीं है, गुणों का द्वेशी हूं स्वार्थ प्रिय हूं, जगत् को हरण करने वाला आश्चर्यरूप मेरा चारित्र है जिसको कभी, कोई भी नहीं जान सकता ॥३४॥

( मुहुर्मूढैर्न्यस्तम् ) मूर्ख अज्ञानिओं द्वारा बारंबार सत्य रूप से आरोपित ( अर्थनिचयं ) पदार्थ समूह रूप इस जगत् का ( भृशं ) संपूर्ण रूपसे (अपलपामि) मैं निषेध या अपहरण करता हूं। अर्थ यह है कि इस मन का चोरने वाला मैं चोर हूं इसलिये ( न कश्चित् विश्वास्यः ) ब्रह्मा वा विष्णु आदिक कोई भी पुरुष मेरे विश्वास के योग्य नहीं है अर्थात् ब्रह्मा विष्णु आदिकों की सत्यता का भी मुझे विश्वास नहीं है, ( न मम यम दंडात् अपि भयम् ) मुझे इसलिये यम के दंड से भी भय नहीं है अर्थात् मैंने अपने स्वरूप बल से यमराज की सत्यता को भी तुच्छ कर दिया है इसलिये मैं निर्भय हूं। ( गुणद्वेषी ) इसी कारण मैं सत्त्व रज तम रूप गुणों से द्वेष करने वाला हूं। अर्थात् मैं अपने

निर्गुण स्वरूप ज्ञान बलसे तीन गुणरूप अज्ञान का द्वेषी हूं अर्थात् अज्ञान के साथ द्वेष होने से मैंने अज्ञान का अत्यंताभाव रूप बाध करडाला है। ( स्वार्थ प्रियः ) तथा मैं स्वार्थ प्रिय हूं। अर्थ यह है, गुण द्वेषी होने में कारण यह है कि मैं स्वार्थी हूं अर्थात् आत्मा रूप अर्थ में मेरा प्रेम है। ( इति ) इस प्रकार से कहा जो ( जगत् वंचन परं चित्रं मे चरित्रम् ) जगत् के सर्वस्व-हरणपरायण अश्चर्य रूप यह मेरा चरित्र है इस मेरे विचित्र चरित्र को लोकमें ( क्वचित् अपि कश्चित् न कलयति ) कहीं पर भी कोई भी नहीं जानता। भाव यह है कि जैसे लोकमें वंचकजन मूर्ख पुरुष द्वारा स्थापन किये हुए धन को हरलेता है और सर्वत्र अविश्वास वाला होता है और नरकसे निर्भय होता है और गुण द्वेषी और वंचक होता है और अपने प्रयोजन मात्र में प्रेम वाला होता है सो ऐसा वंचक वा चोर पुरुष लोकमें दुर्विज्ञेय चरित्र होता है। तैसे ही मैं भी उक्त प्रकार से दुर्विज्ञेय चरित्र वाला हूँ ॥३४॥

सर्व लौकिक सुख सामग्री के अभाव होने पर भी ब्रह्मवेत्ता परम सुखी होता है, इस प्रकार ज्ञानी के आश्चर्यरूप दारिद्र को अब कहता है—

**न तातो नो माता सुहृदपि न मे धामनि धनं**
**न चान्नं पानं वा न सततगतिर्नाम्बरमपि।**
**चरन्तं कृत्स्नं मामहह नहि लोकोऽपि विमृ-**
**शत्यहो मे दौर्गत्यं तदपि सुख साम्राज्यमतु-**
**लम् ॥३५॥**

मेरे पिता नहीं है, माता नहीं है, सन्मित्र नहीं है, शरीर नहीं है, धन नहीं है, अन्न नहीं है, अथवा पान नहीं है। न मुझे प्राणही है, और न वस्त्रही है। फिर भी, व्याप्त होकर विचरते हुए मुझको लोग नहीं देखते यह बड़ा आश्चर्य है और मेरी ऐसी दुर्गति है तो भी उपमा शून्य सुख की अधिकता मुझमें है यह और बड़ा आश्चर्य है ॥३५॥

( न मे तातः ) मेरा कोई उत्पन्न करने वाला पिता नहीं है, (न माता) न कोई मेरी माता है (सुहृत् अपि न) और न मेरे कोई मित्र है। ( धामनि मे धनं न ) घरमें धन भी नहीं है ( नच अन्नं पानं वा ) और न मेरे अन्न जल ही है ( सततगति र्नच ) न मेरा प्राण ही है ( नापि अंबरम् ) और न मेरे शरीर को वस्त्र ही है ( चरंतं कृत्स्नम् ) सर्वत्र विचरते हुए ( माम् ) मैं प्रत्यग् रूप ब्रह्मात्मा को ( अहह ) बड़ा खेद है कि ( लोको पि ) मूढ़ भी जन ( न विमृशति ) नहीं देखता वा विचारता है। यद्यपि इस प्रकार ( मे दौर्गत्यम् ) मेरे को दुर्गमत्व रूप दरिद्रता है ( तदपि ) तथापि ( सुख साम्राज्यं अतुलम् ) उपमाऽशून्य सुख की अधिकता मुझे प्राप्त है। ( अहो ) यह बड़ा ही आश्चर्य है। अर्थ यह है कि जैसे लोक में भी कोई पुरुष माता पिता से तथा सुहृत् से रहित हो, धनहीन हो, अन्न हीन हो, दुग्धादिकों से भी हीन हो, सदा स्व पालक सहायक से हीन हो, वस्त्रों से भी हीन हो तथा भोजन आदिकों के लिये सर्वत्र विचरता हुआ हो फिर भी किसी द्वारा वह पुरुष अनुकंपित नहीं होता, इस प्रकार की दारिद्रता को प्राप्त होकर यदि फिर भी वह पुरुष

परम सुखी है, तो यह अतिशय आश्चर्य है ऐसा ही लोक कहते हैं ॥३५॥

अब ब्रह्मवेत्ता और भी आश्चर्य वर्णन करता है—

गीति छंद।

**यद्विश्वं यदविश्वं यद्ध बहिरन्तश्च नो बहिर्नान्तः। यद्भवपारमपारं तदनहमहमस्मि विस्मितः स्वेन ॥३६॥**

जो विश्व है, जो अविश्व है, जो बाहिर है और जो आन्तर है, जो बाहिर नहीं है और आन्तर नहीं है तथा जो सबके पार है और अपार है, वह अहंकार से रहित मैं हूं ऐसा मुझे मेरा चिन्तन करते हुए आश्चर्य होता है ॥३६॥

( यत विश्वम् ) जो वस्तु जगत् रूप है परन्तु वास्तव से ( यत् अविश्वम् ) जो विश्व रूप नहीं है। तथा ( यत् बहिः अंतः च ) जो सर्व वस्तु के बहिर् तथा अंतर है, परन्तु परमार्थ से जगत्रूप विवर्त की अपने अधिष्ठानरूप उपादानसे पृथक् सत्ता न होने से ( यत् नो बहिः न अंतः ) जो वस्तु न बहिर् है और न आंतर ही है, ( यत् भवपारम् ) जो परमार्थ वस्तु संसार रूप समुद्र के पार है अर्थात् संसार रूप समुद्र से परे परतीर रूप परमार्थ ब्रह्म है, परन्तु ( अपारम् ) जो वस्तु स्वयं अपार है अर्थात् अवधि हीन है, ( तत् ) सो वस्तु ( अनहम् ) अहंकार के अभाव होने से अहं पद का अवाच्य है ( अहंअस्मि )

सो अवाच्य वस्तु मैं हूं इस प्रकार ( स्वेन ) अपने को अपने ही से ( चिंतन् ) चिंतवन करना हुआ मैं आप ही ( विस्मितः ) आश्चर्य को प्राप्त होता हूं ॥२६॥

अब विद्वान् अपनी हिरण्यगर्भता का वर्णन करता है--

शिखरिणी छंद ।

**न सत्यो मे लोको न खलु पुनरोकः सरसिजं**
**रजःसंगो दूरे न मयि विधिशब्दः प्रभवति ।**
**न वाग्भिः संसर्गो नच विषम सर्ग व्यसनिता**
**तथापि ब्रह्माहं निगम निकुरम्बं गदति तत् ॥३७॥**

मेरा कोई सत्य लोक नहीं है, प्रसिद्ध कमलासन भी नहीं है, मैं रज के संयोग से दूर हूं, मुझमें विधि शब्द भी प्रवृत्त नहीं होता, वाणी का संसर्ग भी मुझमें नहीं है और न संसार को उत्पन्न करने में मुझे प्रेम है, फिर भी जिसका वेद वर्णन करते हैं वह ब्रह्मा मैं ही हूं ॥३७॥

( न सत्यो मे लोकः ) मेरे कोई भी सत्य लोक नहीं है। ( नखलु पुनः ओकः सरसिजं ) पुनः प्रसिद्ध कोई कमलासन भी मेरा नहीं है। ( रजः संगो दूरे ) राग आदि रूप संगसे मैं दूर हूं इसलिये ( न मयि विधि शब्दः प्रभवति ) मेरे लिये ब्रह्मा शब्द का प्रयोग भी उचित नहीं है। ( वाग्भिः संसर्गो न ) मेरा वाक् अर्थात सरस्वती आदि शक्तियों से भी संबंध नहीं है तथा ( विषमसर्ग व्यसनिता नच ) विचित्र संसार की उत्पत्ति करने में भी मुझे प्रेम नहीं है, ( तथापि अहंब्रह्मा ) तो भी मैं हिरण्यगर्भ हूं क्योंकि ( निगम निकुरम्बं गदति तत् ) 'एष

ब्रह्मैष इन्द्रः । स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् । स एष विष्णुः स प्राणः स कालाग्निः स चंद्रमाः ।' इत्यादि वेद वाक्य विद्वान ब्रह्मात्मा की हिरण्यगर्भरूपता को कहते हैं।

हिरण्यगर्भ का ब्रह्मलोक है और कमल घर है। वह रजः प्रधान है और विधि उसका नाम है। सरस्वती के साथ उसका संसर्ग है और अनेक प्रकार के चित्र विचित्र जगत् के उत्पादन में वह तत्पर रहता है। मुझमें यह कुछ भी नहीं फिर भी मैं हिरण्यगर्भ हूं यह बड़ा आश्चर्य है ॥३७॥

अब ब्रह्मवेत्ता अपनी विष्णुरूपता के भाव से गाता है—

उपेन्द्रवज्रा छन्द ।

**अहं न मायी नच भोगिशायी न चक्रधारी न दशावतारी । न मे प्रपंचः परि पालनीयस्तथापि विष्णुः प्रभविष्णुरस्मि ॥३८॥**

मैं मायावाला नहीं हूं और न मैं शेष की शय्या करता हूं, मैं चक्र धारण करने वाला नहीं हूं, दश अवतार मैंने कभी भी धारण नहीं किये, मेरे लिये कोई प्रपंच पालन करने को नहीं है तो भी प्रसिद्ध जगदीश्वर विष्णु मैं हूं ॥३८॥

( अहमिति अहं न मायी ) मैं शुद्ध चेतन रूप हूं माया वाला नहीं हूं ( न च भोगिशायी ) और न मैं शेषनाग की शय्या रखता हूँ अथवा अंतःकरण शायी भी नहीं हूं ( न चक्र-धारी ) मैं संसार चक्र को धारण करने वाला भी नहीं हूं ( नच

दशावतारी ) और न मैंने दश अवतार कभी धारण किये हैं अथवा जाग्रत आदिक दशाओं में अर्थात् अवस्थाओं में अवतरणशील भी नहीं हूं। ( न मे प्रपंचः परिपालनीयः ) मुझे पालन करने के लिये कोई जगत भी नहीं है अथवा मुझे सत्यरूप से यह जगत भी स्थापन करने के योग्य नहीं है ( तथापि ) तो भी ( प्रभविष्णुः ) सर्व जगत् का परिपालक प्रसिद्ध जगदीश्वर रूप ( विष्णुः अस्मि ) व्यापनशील ऐसा विष्णु मैं हूँ।

प्रसिद्ध विष्णु भगवान लक्ष्मी रूप माया वाला है तथा शेषशायी है तथा चक्रायुधधारी है, मत्स्यादिक दश अवतारधारी है तथा संसार का परिपालक है। मेरा इनमें से कुछ भी नहीं है फिर भी मैं विष्णु हूं यह आश्चर्य है ॥३८॥

अब विद्वान् अपनी शिवरूपता को गाता है—

**न मूर्तयोऽष्टौ विषमा न दृष्टिर्न भूतिलेपो न गतिर्वृषेण। न भोगि संगो न च कामभंगस्तथापि साक्षात् परमः शिवोऽहम् ॥३९॥**

मेरे आठ शरीर नहीं हैं भेद दृष्टि नहीं है, भस्म मैं कभी धारण नहीं करता, बैल पर बैठता नहीं, कभी सर्प को पास नहीं रखता, काम को मैंने जलाया नहीं तो भी मैं साक्षात् परम शिव हूं ॥३९॥

( न मूर्तयः अष्टौ ) मेरी ईशान आदि आठ मूर्तियां नहीं हैं ( न विषमा दृष्टिः ) और न मेरे तीन नेत्र अर्थात् भेद दृष्टि ही है। ( भूतिलेपो न ) और न मैं कभी भस्म धारण करता हूं ( न वृषेण गतिः ) और मेरा वृषभ वाहन ही है। ( न भोगि-

संगः ) मैं कभी सर्पादि भी पास नहीं रखता हूँ ( न काम भंगः ) और न मैंने काम का नाश किया है ( तथापि ) तोभी ( परमः ) सर्व से उत्कृष्ट ( साक्षात् शिवःअहम् ) साक्षात् शिव मैं हूं।

भाव यह है कि पंचभूत, सोम, सूर्य यजमान यह आठ महादेव की मूर्तियां हैं तथा तीन लोचन हैं। वह भस्म का धारण करने वाला है तथा बैल उसका वाहन है। सर्प शिवके भूषण हैं तथा शिव ने काम का दाह किया है। मेरा इनमें कुछ भी नहीं है फिर भी मैं शिव हूं यह आश्चर्य है।

इन तीनों श्लोकों का भाव यह है कि ब्रह्मा विष्णु और शिव इन तीनों देवताओं का आनन्द भी परमानन्दरूप आत्मानन्द के अंतर्भूत है ॥३९॥

अब ब्रह्मवेत्ता अपनी परमपद रूप स्थिति के गीत को रूपकालंकार से गाता है—

मंदाक्रान्ता छन्द ।

**जाग्रत सुप्ति स्वप्न विपिने गाहमानोऽप्यसंगः**
**सत्वोत्कर्षात् करणहरिणैर्नेक्षणीयः पराग्भिः ।**
**लीलावृत्ति प्रशमितमहामोह मत्तेभजालः काला-**
**तीते विलसति पदे स्वात्म कंठी रवो नः ॥४०॥**

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति रूप वन में विचरता हुआ भी असंग हूं, सत्व के उत्कर्ष के कारण इन्द्रियरूप हरिणों को उनके मुख फेर लेने से मैं दीखता नहीं हूं। लीलावृत्ति से महामोहरूप हाथी के समूह को नाश किया है जिसने ऐसा

मेरा प्रत्यगात्मा रूप सिंह कालातीत पद में विचरता है ॥४०॥

जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति रूप वनमें ( गाह मानः अपि ) विचरता हुआ भी ( असंगः ) हमारा आत्मारूप सिंह असंग ही है। अर्थात् तीनों अवस्था रूप वनके धर्म को नहीं सेवन करता। ( सत्वोत्कर्षात् ) और पारमार्थिक सत्ता रूप बलके उत्कर्ष से ( करण हरिणैः प्राग्भिः ) विमुख होकर पलायमान इन्द्रियरूपी हरिणों से ( नईक्षणीयः ) हमारा आत्मारूप सिंह दर्शनीय नहीं है। ( लीला वृत्ति प्रशमित महामोह मत्तेभजालः ) श्रवण आदि रूप लीला करके उत्पन्न हुई जो अखंडाकार वृत्ति है उस वृत्ति से नाश किया है मूलाज्ञानरूप मस्त हाथिओं का समूह जिस आत्मारूप सिंहने ( नः ) वह हम लोगों का ( स्वात्म कंठीरवः ) अपना प्रत्यगात्मारूप सिंह ( कालातीते पदे विलसति ) त्रिकाला-बाध्य निज स्वरूप रूप एकांत पद में प्रकाशमान है ॥४०॥

वसंत तिलका छन्द।

**इत्यादिभिर्भुवन जाड्यहरैः सुगोभिः सत्योज्ज्वलैः श्रुतिसुखैरमृत प्रबोधैः । आनन्दयन् प्रतिपदं प्रणतान् सभाग्यानाशाः पवित्रयति भानुरिव प्रबुद्धः ॥४१॥**

लोगों के अज्ञान को हरण करने वाला, सत्य से प्रकाशवान, श्रवण को सुखदाता, परमपद के उपदेश से अज्ञान अंधकार का नाश करने वाला, प्रणाम करने वाले

अधिकारियों को शुभ वाक्यों से उपदेश करके परमपद का आनंददाता जीवन्मुक्त महात्मा सूर्य के सदृश दिशाओं को पवित्र करता है ॥४१॥

( प्रबुद्धः ) ज्ञातज्ञेय जीवन्मुक्त महात्मा ( भुवनजाड्यहरैः ) लोकों के अज्ञान को हरने वाले तथा ( सत्वोज्ज्वलैः ) सत्य रूप ब्रह्म के प्रबोधक अति शुद्ध वा दीप्तिमान् तथा ( श्रुतिसुखैः ) श्रवण मात्र से अधिकारी जनोंको सुख देनेवाले तथा ( अमृतबोधैः ) अमृत रूप अर्थात् जन्म मरण आदि रूप संसार धर्मों से रहित ब्रह्म और आत्माका अभेद रूपसे ज्ञान करने वाले तथा ( भानुरिव ) सूर्य के समान अधिकारियों के अज्ञान रूप अन्धकार को ( इत्यादिभि ) 'चिरान्मग्नेनांतः प्रकृतिविषमे' इत्यादि उक्त ( सुगोभिः ) शुभ वाक्यों से ( प्रबुद्धः ) ज्ञातज्ञेय जीवन्मुक्त महात्मा ( प्रणतान् सभाग्यान् ) साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करने वाले सुकृति जिज्ञासु जनों को ( प्रतिपदं आनंदयन् ) पद पद में आनंद देता हुआ ( आशाः ) दसों दिशाओं को ( पवित्रयति ) पवित्र करता है ॥४१॥

अब ग्रंथकर्ता आचार्य श्रीगंगाधरेंद्र सरस्वती ब्रह्मवेत्ता जीवन्मुक्त महात्मा की श्रुति स्मृति अभियुक्त कृत स्तुति का अनुवाद करते हैं—

**धन्यः स एव कृत कृत्यतमः समस्त मान्यः स एव कुलमस्य च धन्यधन्यम् । संन्यस्य कर्म निगडं श्रुतिसारसौख्ये विन्यस्य चित्तमभयात्मनि निर्वृतो यः ॥४२॥**

जिसने सब कर्मों का त्याग कर श्रुति सारांश रूप आनंद को प्राप्त किया है, अद्वैत में चित्त को स्थापित करके जो सुखी हुआ है उसको धन्य है, वह अत्यंत कृत कृत्य है, सबको पूजनीय है और उसके कुल को भी धन्य है ॥४२॥

( संन्यस्य कर्म निगडम् ) गमन के विघातक लोह शृंखला रूप कर्मों का सम्यक् त्याग करके अर्थात् वासनाओं के तथा फल के सहित कर्मों का त्याग करके अनन्तर ( श्रुति सार-सौख्ये ) श्रुति सारांश सुख रूप ( अभयात्मनि ) अद्वैत रूप होने से अभय रूप आत्मा में ( चित्तं विन्यस्य ) स्व चित्त को स्थापन करके ( यः निर्वृतः ) जो सदा परमानंद रूप होकर स्थित होता है ( स एव ) वही ब्रह्मवेत्ता जीवन्मुक्त मंगलमूर्ति महात्मा ( धन्यः ) श्लाघनीय है ( कृतकृत्यतमः ) वह संपूर्ण रूप से कृत कर्तव्य है अर्थात् कृतार्थ है तथा ( समस्तमान्यः ) सर्व सुरासुर मनुष्यों से मान्य है अर्थात् पूज्य है ( अस्य ) इस ब्रह्मवेत्ता जीवन्मुक्त का ( कुलं च धन्यधन्यम् ) कुल अत्यन्त ही श्लाघनीय है क्योंकि उस ब्रह्मवेत्ता को अनायास से ही परम सुख लाभ की योग्यता प्राप्त हुई है ॥४२॥

अब विद्वान् की विदेह मुक्ती को दिखलाया जाता है—

**एवं विहृत्य सुचिरं परिपूर्णकामः कारुण्य पूर पतितोद्धरण प्रवीणः । प्रारब्ध शेष विगमे गत-सर्वशोकः स्वाराज्य सौख्य जलधिर्निरुपाधि रास्ते ॥४३॥**

इस प्रकार बहुत समय तक विचरता हुआ, करुणा से भरा हुआ, पतितों के उद्धार करने में प्रवीण, पूर्णकाम, प्रारब्ध के शेष होने पर्यंत शोकरहित और उपाधिरहित स्वाराज्य के आनंद समुद्र में स्थिर होता है ॥४३॥

( पतितोद्धरण प्रवीणः ) संसार सरित् प्रवाह निमग्न अज्ञानी जनों के उद्धार करने में श्रोत्रिय होने से परम चतुर ( परिपूर्णकामः ) तथा सर्व मनोरथों की सिद्धि वाला ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता ( एवं ) उक्त रीति से शुभ वाक्यों के गान पूर्वक ( विहृत्य ) बहुत काल पर्यन्त अज्ञ दृष्टि से विहरण करके ( प्रारब्धशेषविगमे ) निखिल प्रारब्ध कर्म के नाश होने पर ( गतसर्व शोकः ) अखिल दुःख प्रतीति की निवृत्ति वाला होकर ( निरुपाधिः ) अज्ञजन कल्पित देह की निवृत्ति पूर्वक ( स्वाराज्य सौख्य जलधिः ) स्वयं प्रकाश आनंद समुद्र मात्र होकर (आस्ते) स्थित होता है ॥४३॥

उस विदेहमुक्त महात्मा की पुनः विकार शंका का अब निराकरण किया जाता है—

**नोदेति नास्तमुपयाति न वृद्धिमेति नापि क्षयं च भजते निजतेजसेद्धः । पूर्णः सदैव सहजेन सुखा-मृतेननिर्लाञ्छनः स्फुरतिकोऽपि निजात्मचन्द्रः ४४**

न वह उदय होता है, न अस्त होता है, न उसकी वृद्धि होती है और न क्षय होता है । अपने प्रकाश से ही प्रकाशित, सहज सुखामृत से सदा पूर्ण, लांछनरहित ऐसा

निजात्म रूप चन्द्र सदैव स्फुरित रहता है ॥४४॥

(न उदेति नास्तं उपयाति) जो उत्पत्ति को प्राप्त नहीं होता तथा नाश को प्राप्त नहीं होता (न वृद्धि मेति नापि क्षयम् भजते) तथा न वृद्धि को प्राप्त होता है, न ह्रास को ही प्राप्त होता है। (निज तेजसा इद्धः) और जो अपने प्रकाश से ही प्रकाशमान है (सहजेन सुखामृतेन सदैव पूर्णः) तथा स्वाभाविक आनन्द के अमृत से सदा ही परिपूर्ण है, (निर्लाञ्छनः) तथा द्वैतरूप कालिमा के लाञ्छन से शून्य है (स्फुरति कोपि निजात्मचंद्रः) इस प्रकार का कोई अनिर्देश्य स्वात्मरूप चंद्रमा विराजमान है। इतने कहने से विदेहमुक्त की पुनरावृत्ति का निरास हुआ। श्रीभगवान् ने अपने श्रीमुख से अर्जुन के प्रति श्रीगीता में कहा है कि, हे अर्जुन, ब्रह्मलोक पर्यन्त सर्वलोक पुनरावृत्ति वाले हैं परन्तु मेरे स्वरूप को प्राप्त होने वाले ब्रह्मवेत्ताका फिर कभी भी जन्म नहीं होता। जिसको प्राप्त होकर ज्ञानी महात्मा लोग पुनः वापिस नहीं लौटते वही मेरा परम स्वरूप है। ऐसे ही वेदमें भी कहा है 'न स पुनरावर्तते' ॥४४॥

अब ग्रंथकी समाप्ति में अनेक रूपकों से सर्व वेदान्त विषय की उत्कर्षता निरूपण करते हैं—

शार्दूल विक्रीडित छंद।

**विश्वानन्दतुषारसिंधुरखिल ज्ञान स्फुलिंगानलः प्रच्छन्नासिलता च कोश कुहरे द्वैत भ्रम छेदिनी। मोह ध्वान्त विभाकरः परिलसन् वेदांतसीमंतिनी मौलिस्थान मणिःसदा विजयते संविन्मयः पूरुषः ॥४५॥**

जो आनंदरूप हिमकणों का समुद्र है, जो सब ज्ञान रूप चिनगारियों का अग्नि है, जो हृदयकोश रूप छिद्र में द्वैत भ्रम को काटने वाली तरवार है, जो मोह के नाश करने वाला सूर्य है, जो उपनिषत् वधू के शिर स्थान की मणि होकर प्रकाशता है वह चैतन्यमय पुरुष प्रत्यगात्मा की सदा विजय है ॥४५॥

( विश्वानन्दतुषार सिंधुः ) जो चेतन स्वरूप प्रत्यगात्मा ब्रह्म पुरुष सकल आनन्द रूप हिमकणों का समुद्र है, ( अखिल ज्ञान स्फुलिंगानलः ) जो उक्त लक्षण पुरुष सकल ज्ञान रूप चिनगारियों का मूलभूत अग्नि है, ( कोश कुहरे द्वैतभ्रमविच्छेदिनी प्रच्छन्ना असिलता च ), जो उक्त लक्षण पुरुष पंचकोश रूप खोह में अर्थात् हृदय रूप म्यान में गूढ़ द्वैतरूप भ्रम को काटने वाली तलवार है, ( मोह ध्वांत विभाकरः ) जो उक्त लक्षण पुरुष अज्ञान या अविवेक रूप अंधकार के लिये सूर्य है ( वेदांत सीमंतिनी मौलिस्थानमणिः परिलसन् ) तथा जो उक्त लक्षण पुरुष उपनिषत रूप वधू के शिरःस्थानीय मणि रूप होकर सर्वओर से प्रकाशमान है। ( संविन्मयः पुरुषः सदा विजयते ) ऐसा वह चेतन रूप ब्रह्म प्रत्यगात्मा सर्वदा ही सर्व से उत्कर्ष रूप से वर्तमान है ॥४५॥

अब ग्रन्थकर्ता श्रीमत् गंगाधरेंद्र सरस्वती ग्रंथ का नाम सूचन करते हुए अधिकारीओं के प्रति आशीर्वाद प्रदान करते हैं—

वसंत तिलका छन्द ।

**शान्त्यादिदिव्य मणिभूषणमंडितानां वेदान्त-**

वारिधिसुधारसलालसानाम् । कैवल्य कल्पतरुमूलमुपाश्रितानां स्वाराज्यसिद्धिरियमस्तु मुदे बुधानाम् ॥४६॥

जो शम दमादि दिव्य मणि भूषणों से युक्त हैं, जो वेदांत समुद्र के सुधारस के पान करने की लालसा वाले हैं और जो कैवल्य के कल्पवृक्ष के मूलरूप जो ब्रह्मनिष्ठ गुरु हैं उनको प्राप्त हुए हैं, ऐसे बुद्धिवान अधिकारियों को यह स्वाराज्य सिद्धि ग्रन्थ आनंददाता हो ॥४६॥

( शांत्यादिदिव्य मणिभूषण मंडितानाम् ) शम दम आदि रूप दिव्य मणिजड़ित भूषणों से जो भूषित हैं ( वेदांत वारिधि सुधारसलालसानाम् ) और वेदान्तरूप समुद्र के अमृत सदृश परमानंदरूप आत्मा में जो अत्यंत स्पृहायुक्त हैं ( कैवल्य कल्पतरुमूल मुपाश्रितानाम् ) जो मोक्षरूप कल्पवृक्ष का मूल ब्रह्मश्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ रूप गुरु के चरणकमल का श्रवण के लिये जिन्होंने आश्रय लिया है ( बुधानाम् ) ऐसे उन पण्डितजनों को ( इयं स्वाराज्य सिद्धिर्मुदे अस्तु ) यह स्वाराज्य सिद्धि नामक ग्रन्थ परमानन्द को देने वाला हो ।

भाव यह है कि लोक में भी स्वाराज्य सिद्धि नाम चक्रवर्तित्व रूप सार्वभौम राज्य महान् पुण्य वाले पुरुषों को ही प्राप्त होता है, क्षुद्र पुरुषों को नहीं । तैसे ही स्वात्मराज्य रूप स्वाराज्य पद भी महान् पुण्यशाली, महा विरक्त हृदय, परम मुमुक्षु तथा जिन्होंने गुरुसेवादि पूर्वक वेदांत का श्रवण किया है ऐसे पण्डितों को ही प्राप्त होता है, अन्य जनों को नहीं ॥४६॥

अब ग्रंथकर्ता अपनी निष्कामता को बोधन करता हुआ इस स्वाराज्य सिद्धि ग्रंथ के वाक्य समुदाय रूप पुष्पांजलि से अपने इष्टदेवता का पूजन करता है—

अनुष्टुप छंद ।

**वाक्य पुष्पांजलिः सेयं भक्त्यान्यस्ता पदाब्ज-योः । धियः प्रेरकयोरस्तु शिवयोः प्रीति-सिद्धये ॥४७॥**

यह वाक्यरूप पुष्पांजलि, बुद्धि के प्रेरक उमामहेश्वर के चरणकमलों में मैं भक्तिपूर्वक अर्पण करता हूं ज़ो मुझमें उनकी प्रीति को उत्पन्न करे ॥४७॥

वाक्यरूप पुष्पों की अंजलिरूप जो यह स्वाराज्य सिद्धि है ( सा इयं वाक्य पुष्पांजलिः ) सो यह वाक्य पुष्पांजलि ( शिवयोः ) पार्वती और शिव के ( पदाब्जयोः ) चरण कमलों में ( भक्त्या न्यस्ता ) मैंने भक्तिपूर्वक समर्पण की है। समर्पण की हुई यह वाक्य पुष्पांजलि ( धियः प्रेरकयोः ) बुद्धि के प्रेरक उमा और महेश्वर में ( प्रीतिसिद्धये अस्तु ) प्रीति की उत्पन्न करने वाली हो ॥४७॥

इति श्रीमत् गंगाधरेन्द्र सरस्वती प्रणीत स्वाराज्य सिद्धौ
आगमकरणाख्य तृतीय प्रकरणे सरलान्वय पद्य
काशिकाऽऽख्या भाषा टीका समाप्ता ।

# वेदांत केसरी कार्यालय की पुस्तकें ।

महा वाक्य--आस्तिक मनुष्यों के आचरण करने योग्य वेद के महा वाक्य अपनी विशेषता ही रखते हैं। तत्त्वबोध को प्रत्यक्ष कराने के लिये महावाक्यों को छोड़कर अन्य कोई साधन नहीं है। ये अत्यन्त गूढ़ होते हुए भी इनकी इस पुस्तकमें दृष्टांत सहित सरल व्याख्या की गई है।

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति का अनुभव भी इसमें भली प्रकार समझाया है। मूल्य रु० १)

उपनिषत् [ ५१ ]--इसमें भिन्न २ प्रकार की उपासना, ज्ञान के अपूर्व अनुभव तथा योग की रहस्यमय क्रियाओं का अनुभव युक्त वर्णन है। जो कार्य प्राचीन दस उपनिषत् से विलम्ब से होता है वही इनसे बहुत सुलभता से होता है। ये उपनिषत् संस्कृत भाषा में होने से हिन्दी जानने वाले इनसे लाभ नहीं ले सकते थे, इसीसे सरल अनुवाद करके छापा है। यह मुख्य दशोपनिषत् को छोड़कर ५१ उपनिषत् का संग्रह है। मूल के साथ मिलाने के लिये सुभीता रहे इस हेतु से यथा स्थान श्लोकांक भी दिये गये हैं।

सुन्दर छपाई के ५५० के करीब पृष्ठ की कपड़े की जिल्द का मूल्य केवल रु० २॥)

ब्रह्म सूत्र--( वेदान्त दर्शन ) शांकर भाष्य भाषानुवाद सम्पूर्ण दो भाग--उपनिषदों में आत्मज्ञान संबन्धी अनेक ऐसे कथन आये हैं जो ऊपर ऊपरसे देखने में परस्पर विरोधी मालूम होते हैं। उनकी एक वाक्यता करके वैदिक तत्त्वज्ञान को विशुद्ध

रूप से प्रकट करने के लिये भगवान् व्यास ने समन्वय रूप से ये सूत्र लिखे हैं। इसके सम्पूर्ण उपलब्ध भाष्यों में शांकर भाष्य सबसे अधिक प्रामाणिक और प्राचीन माना जाता है। आशा है हिन्दी भाषा भाषी इससे पूरा लाभ उठावेंगे। दो जिल्दों में संपूर्ण। मूल्य प्रति जिल्द का रु० ३)

पंचकोश विवेक—पंचकोश के परदे से ढपे हुए आत्मा का स्पष्ट बोध नहीं होता; इसीसे उसको विस्तार सहित समझाकर आत्माको दर्शा दिया है। पंचकोश का विवेक ही आत्म अनात्म विवेक है। मूल्य १)

सचित्र योगासन—योग के (४०) आसन फोटो और विवेचन सहित हैं। मूल्य १॥)

सदाचार—( भाषा ) श्रीमत् शंकराचार्य कृत छोटे पुस्तकों में इसका भी नाम है, इससे मुमुक्षुओं को सत्य आचारका स्पष्ट बोध होता है। मूल्य ।॥)

काया पलट नाटक—राजा, रानी और मंत्री के रूप से जीव बुद्धि और मन का जगत् आसक्ति में फंसना और सद्गुरु के उपदेश द्वारा ज्ञान भाव में आने का वर्णन है। प्रारब्ध दुःख आदि का भी वर्णन है। मूल्य ।)

उपासना—इसमें साकार, सगुण, निर्गुण, कार्य ब्रह्म तथा कारण ब्रह्म आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न २ प्रकारसे समझाया है। उपासना की स्थिरता ही से मन एकाग्र होकर आत्म साक्षात्कार होता है। मूल्य ॥)

वेदान्त रहस्य—वेदान्त द्वारा अपने आत्मा के बोध के निमित्त अनेक प्रक्रियाओं में जो गुप्त रहस्य है उसे स्पष्ट रूप से

प्रकट कर दिया है जिसे जानने से ही सब जानने का अन्त होता है, ऐसे विस्तार सहित समझाया है। मूल्य ॥≈)

कौशल्य गीतावली भाग १-२-वेदान्त केसरी में आई हुई कविताओंका संग्रह। कविता रोचक सरल और ज्ञानके संस्कारों को प्रदीप्त करने वाली हैं। प्रत्येक भाग का मूल्य ।≈)

वाक्य सुधा—वेदान्त ग्रन्थों में ज्ञान समाधिका वर्णन बहुत स्थान पर है परन्तु इसमें जैसा वर्णन है वैसा सूक्ष्म वर्णन और स्थान में कहीं नहीं मिलता। रहस्य पूर्ण विवेचन से भली प्रकार समझाया गया है। मूल्य १)

चर्पट पंजरिका—"भज गोविंदं भज गोविंद" पद्य का विवेचन सहित भाषानुवाद है। दृष्टांतों से रोचक है। समश्लोकी पद्य भी हैं। मूल्य १)

वेदान्त दीपिका—इस ग्रंथ में जिज्ञासु को स्वाभाविकता से होने वाली शंकाओं का अत्यन्त मार्मिकता से समाधान किया गया है। मूल्य १॥)

मणि रत्न माला—अथवा प्रश्नोत्तरी, यह ग्रंथ शंकराचार्य कृत है, भाषा पद्य और विवेचन है, सबके लिये ही हितकर है। पृष्ठ संख्या ५०६ सुंदर कपड़े की जिल्द मूल्य केवल २)

वेदान्त स्तोत्र संग्रह—श्रीमच्छङ्कराचार्य आदि के प्रतिभाशाली वेदांत के मुख्य २ चुने हुए ३२ स्तोत्रों का संग्रह किया गया है। मूल्य ॥≈)

वाक्य वृत्ति—शंकराचार्य के छोटे ग्रन्थों में यह प्रसिद्ध है। मूल्य ॥।)